।। श्रीअभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ।।

श्रीकैलासविद्यालोकस्य अष्टाविंशः सोपानः

ॐ

अथर्ववेदीया

मुण्डकोपनिषत्

सटिप्पणटीकाद्वयसमलङ्कृतशाङ्करभाष्योपेता

* * *

गोविन्दप्रसादिनी टिप्पणीपरिष्कर्ता :

विद्यावाचस्पति महामण्डलेश्वर अनन्तश्री

स्वामी विष्णुदेवानन्दगिरिजी महाराज

* * *

राष्ट्रभाषाव्याख्याता :

श्रीकैलासपीठाधीश्वर महामण्डलेश्वर अनन्तश्री

स्वामी विद्यानन्दगिरिजी महाराज

वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य

॥ श्रीअभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ॥

श्रीकैलासविद्यालोकस्य अष्टाविंशः सोपानः

अथर्ववेदीया

मुण्डकोपनिषत्

सटिप्पणटीकाद्वयसमलङ्कृतशाङ्करभाष्योपेता

गोविन्दप्रसादिनी टिप्पणीपरिष्कर्ता :

विद्यावाचस्पति महामण्डलेश्वर अनन्तश्री

स्वामी विष्णुदेवानन्दगिरिजी महाराज

* * *

राष्ट्रभाषाव्याख्याता :

श्रीकैलासपीठाधीश्वर महामण्डलेश्वर अनन्तश्री

स्वामी विद्यानन्दगिरिजी महाराज

वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य

* * *

सम्पादक :

डॉ० उमेशानन्द शास्त्री, स्वामी भास्करसंविद् गिरिजी

प्रकाशक :
पट्टाभिषेक रजतमहोत्सव महासमिति
श्रीकैलास आश्रम, ऋषिकेश (उ०प्र०)

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण २२०० : — सन् १९७८
द्वितीय संस्करण २००० : — सन् १९९१

❀ पुस्तक प्राप्ति स्थान ❀

❀ श्रीकैलास आश्रम, मुनि की रेती, ऋषिकेश-२४९२०१ (उ.प्र.)
❀ श्रीकैलास आश्रम, उजेली, उत्तरकाशी-२४९१५३ (उ.प्र.)
❀ श्रीकैलासधाम, कैलासधाम मार्ग, नई झूंसी, प्रयागराज (उ.प्र.)
❀ श्री दशनाम संन्यास आश्रम, भूपतवाला, हरिद्वार (उ.प्र.)
❀ श्रीकैलास विद्यातीर्थ, भाई वीरसिंह मार्ग, नई दिल्ली-११०००१
❀ श्री दक्षिणामूर्ति सं०म० विद्यालय, मिश्रपोखरा, वाराणसी-२२१००१
❀ श्री चौखम्बा विद्याभवन चौक, वाराणसी-२२१००१
❀ श्री चौखम्बा विश्व भारती चौक, वाराणसी-२२१००१

मुद्रक—श्रीकैलास विद्या प्रकाशन, श्री ब्रह्मानन्दाश्रम, मुनि की रेती, ऋषिकेश (उ.प्र.)

।। दिशन्तु शं मे गुरुपादपांसवः ।।

प्रस्तावना

किसी भी अर्थ के लिये प्रमाण की आवश्यकता होती है। अनविगत अबाधित वस्तुविषयक ज्ञान को प्रमा कहते हैं और ऐसे प्रमा ज्ञान के करण को प्रमाण कहते हैं। प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि भेद से छः माने गये हैं। इनमें से शब्द एक ऐसा प्रमाण है, जिससे परोक्ष एवं अपरोक्ष दोनों प्रकार का ज्ञान होता है। असन्निहित एवं व्यवधान युक्त वस्तु का शब्द से परोन ज्ञान ही होता है, ऐसा दशम-पुरुष में देखा गया है। धर्म एवं धर्म के फल स्वर्गादि में कार्य कारण भाव का ज्ञान आगम वाक्य के सिवाय अन्य किसी भी प्रमाण से नहीं हो सकता है; क्योंकि मर्त्यलोक-वासी प्राणी के लिये धर्म का फल स्वर्ग, धर्मज्ञान तथा तदनुष्ठान काल में असन्निहित ही रहता है, परन्तु आत्मविद्या का विषय आत्मा एवं आत्मज्ञान का फल मोक्ष जीवितदशा में ही अनुभव किया जा सकता है। अतः आत्मज्ञान का फल सर्वदुःख-निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्तिरूप मोक्ष स्वर्गादि के समान परोक्ष नहीं है।

आत्मा के स्वरूप परिमाण, कर्तृत्वाकर्तृत्वादि के विषय में सभी दार्शनिकों के मत में परस्पर विरोध दीख पड़ता है। किं बहुना वेद-वेदान्त को प्रबल प्रमाण मानकर तदनुसार चिन्तन करने वालों के मत में भी विरोध दीखता है। उन सभी पक्षों का निराकरण कर सिद्धान्तानुसार उक्त विषयों में निर्णय देने वाले जगद्गुरु आद्यभगवान् शङ्कराचार्य का विचार अत्यन्त श्लाघनीय है; क्योंकि उक्त विषयों में जहाँ नास्तिकों ने अटकलबाजी से काम लिया है वहाँ अनुमानैकचक्षुः आस्तिकों ने भी उन्हीं भूलों का अनुसरण किया है। इसीलिये भाष्कारों ने ऐसे मतों का अनादर 'मदोन्मत्तवदुपेक्षणीयम्' इत्यादि वाक्यों से किया है।

पौरुषेय तथा अपौरुषेय भेद से आगम प्रमाण भी दो प्रकार का माना गया है। इनमें वेद अपौरुषेय आगम है और वेद से अविरुद्ध स्मृत्यादि पौरुषेय आगम कहे गये हैं। प्रत्यक्ष श्रुति से विरोध आने पर स्मृत्यादि उपेक्षणीय हैं। ऐसा भगवद्पाद आचार्य शङ्कर ने कहा है। अतः धर्म तथा ब्रह्मतत्त्व के निर्णय में ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' ऐसा कहा है। ऐसे वेद के कर्म, उपासना तथा ज्ञान तीन काण्ड बताये जाते हैं, इनमें वेद के शिरोभाग ज्ञानकाण्ड को उपनिषत् कहते हैं। उपनिषत् मन्त्र तथा ब्राह्मण इन दोनों ही भागों में उपलब्ध है। अदनुसार यह प्रस्तुत मुण्डकोपनिषत् अथर्ववेदीय मन्त्रभाग की मानी जाती है। कुछ लोग ऋक्, यजुः एवं समवेद के समान अथर्ववेद को प्रामाणिक नहीं मानते, किन्तु आस्तिक समाज में चारों वेदों को समानरूप से प्रमाण माना गया है। उपनिषदों का अध्ययन गुरु परम्परा से करने का नियम है। शम, दमादि साधन-सम्पन्न अधिकारी की परीक्षा कर आचार्य औपनिषद ब्रह्मविद्या का उपदेश किया करते थे। इसीलिये इस मुण्डकोपनिषत् के प्रारम्भ में गुरु-शिष्य परम्परा का उल्लेख किया गया। औपनिषद ब्रह्मविद्या का मुख्य अधिकारी चतुर्थ आश्रमी संन्यासी को ही आचार्य शङ्कर ने माना है। इस स्थिति में इसके उपदेशक आचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ, संन्यासी ही हो सकते हैं, किन्तु इस मुण्डकोपनिषत् के प्रारम्भिक गुरु-शिष्य परम्परा वर्णन को देखते हुये उपर्युक्त भगवान् शङ्कराचार्य जी की मान्यता के साथ विरोध प्रतीत होता है। अतः इस उपनिषत् के प्रारम्भिक सम्बन्ध भाष्य में आचार्य शङ्कर ने अपने सिद्धान्तों का निरूपण दृढ़ता से किया है। आचार्य शङ्कर का स्पष्ट अभिप्राय है कि ब्रह्मविद्या और कर्म का सह-समुच्चय कभी भी हो नहीं सकता; क्योंकि लौकिक तथा वैदिक वर्णाश्रम उचित कर्मों में प्रवृत्ति देहादि में अभिमान पूर्वक ही होती है, किन्तु ब्रह्मविद्या की साधना सम्पूर्ण अभिमान को छोड़कर प्रारम्भ किया जाता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्मविद्या एवं कर्मों का परस्पर विरोध पर्वतवद् अकम्प आचार्य शङ्कर ने कहा। जहाँ ब्रह्मविद्या के आचार्य में गार्हस्थ्य सुना जाता है, वह केवल आभास मात्र है।

इस उपनिषत् का प्रारम्भ बड़े कौतुहलपूर्ण प्रश्न से किया गया है। 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति' किसके जानलेने पर सब कुछ जान लिया जाता है। इस प्रश्न के उत्तर में महर्षि अङ्गिरा ने शौनक ऋषि से परा और अपरा दो प्रकार की विद्या का भेद बतलाते हुये कहा है, कि षडङ्ग चारों वेद उनसे उत्पन्न ज्ञान तथा उनका फल धर्म, अर्थ, काम को विषय करने वाली विद्या अपरा है, इससे भिन्न परा विद्या है। जिससे अव्यक्त अक्षर सच्चिदानन्द ब्रह्म का बोध होता है। परा विद्या के विषय ब्रह्मतत्त्व का निरूपण 'अद्रश्यम्' आदि निषेध विशेषणों तथा 'नित्यं विभुम्' इत्यादि विधेय विशेषणों के द्वारा बतलाया है। ऊर्णनाभ (मकड़ी) से जैसे जाले की उत्पत्ति होती है, ऐसे ही अक्षरब्रह्म से सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है। ऐसा कहकर अद्वय, असहाय ब्रह्म को ही जगत् का कारण श्रुति ने बतलाया है। अतएव अद्वितीय-ब्रह्म नाना प्रपञ्चरूप में से विवर्तित होता है, ऐसा बतलाया गया है।

प्रथममुण्डक के द्वितीयखण्ड में प्रायशः अपरविद्या का विस्तार बतलाकर पुनः अपरविद्या के विषय सम्पूर्ण लोकों एवं इनके भोगों से विरक्त उत्तम जिज्ञासु के लिये गुरूपसदन-पूर्वक परतत्त्व को जानने की बात बतलायी गयी है। द्वितीयमुण्डक के प्रथमखण्ड में अनेक प्रकार से विश्व उत्पत्ति का प्रसङ्ग आया है और उस विश्वात्मा को जो अपने हृदयरूपी गुफा में जान लेता है, वह सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाता है, ऐसा भी कहा गया है। द्वितीयमुण्डक के द्वितीयखण्ड में अक्षरतत्त्व को जानने के लिये अनेक साधन बतलाये गये, उन साधनों में प्रणव को धनुष, आत्मा को बाण तथा ब्रह्म को लक्ष्य बतलाकर प्रणव का आश्रय लेकर ब्रह्मतत्त्व प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय प्रणव को ही कहा है।

तत्त्वज्ञानी के हृदयग्रन्थि का भेदन, सर्वसंशय का उन्मूलन और कर्मों का क्षय बतलाते हुये जीवनमुक्ति का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। अन्तिम मन्त्र में ब्रह्म की सर्वरूपता बतलायी गयी है। तृतीयमुण्डक के दोनों खण्डों में परविद्या के विषय ब्रह्मतत्त्व का निरूपण अनेक प्रकार से किया गया है और अन्त में कलालय का निरूपण नदी के दृष्टान्त से करके विदेह कैवल्य का वर्णन किया गया है।

मुण्डकोपनिषत् स्वाध्याय के अङ्गरूप से शिरोव्रत का वर्णन मिलता है, जिसका अर्थ भाष्यकारों ने किया है—शिरपर अग्नि धारणकर उसका स्वाध्याय करना अर्थात् इसके अध्ययन एवं इसमें कहे गये साधनों के अनुष्ठान में अत्यन्त सावधानी की आवष्यकता है।

इसका नाम मुण्डकोपनिषत् क्यों रखा गया? इसके उत्तर से विद्वानों ने अनेक प्रकार की कल्पनायें की हैं। किसी-किसी ने तो यह भी कह डाला कि शिर-मुण्डन कराकर अर्थात् संन्यास ग्रहण कर ही मुण्डकोपनिषत् का स्वाध्याय आदि करने का नियम होने से इसका नाम मुण्डकोपनिषत् रखा गया है। हमारी समझ से मुण्डक नामकरण का तात्पर्य यह हो सकता है कि हथेली पर अपना शिर रखकर इसका अध्ययन एवं अनुष्ठान किया जाय। आत्माभिमान का परित्याग ही हथेली पर शिर रखना है और ऐसा करने पर ही जीव-ब्रह्म का अभेद चिन्तन तथा बोध सम्भव है, इसी अभिप्राय से इसका नाम मुण्डकोपनिषत् रखा गया है।

प्रस्तुत प्रकाशन की आवश्यकता

यों तो उपनिषदों के भाष्य, टीका एवं विभिन्न भाषाओं में व्याख्यान अनेकों हो चुके हैं, पर भगवत्पाद आद्यभगवान् शङ्कराचार्य जी का भाष्य सर्वमान्य है, उस भाष्य के अर्थ गाम्भीर्य का अवगाहन आनन्दगिरि टीका के बिना सम्भव नहीं है। इसीलिये संन्यासी समाज में प्राचीन परम्परा के अनुसार आनन्दगिरि टीका के सहित प्रस्थानत्रयी शाङ्करभाष्य पढ़ाने का क्रम रहा है, जो श्रीकैलास आश्रम की परम्परा में आज भी अक्षुण्णरूप से चल रहा है। इस आश्रम की परम्परा में अनेकानेक विद्वद्धौरेय श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा हो चुके हैं, जिनमें महामण्डलेश्वर अनन्तश्री स्वामी गोविन्दानन्द गिरिजी महाराज का नाम अधिक उल्लेखनीय है, जिन्होंने प्रस्थात्रयी

ॐ

मुण्डकोपनिषत् ।

सटिप्पणटीकाद्वयसमलङ्कृतशाङ्करभाष्ययुता

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नःपूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

[हे देवताओं ! आपकी कृपा से हम कानों के द्वारा कल्याणप्रद शब्द सुनें। आँखों के द्वारा कल्याणप्रद दृश्य देखें। वैदिक यागादिक कर्म करने में हम समर्थ होवें। दृढ़ अङ्गों और शरीरों से स्तुति करते हुए हम लोग केवल देवहित याग के लिये सम्पूर्ण आयु व्यतीत करें।

महान् यशस्वी इन्द्रदेव हमारा कल्याण करें। परम ज्ञानी पूषादेव हमारा कल्याण करें। सम्पूर्ण आपत्तियों के नाश करने में चक्र के समान घातक गरुड़ हमारा कल्याण करें। तथा देवताओं के गुरु बृहस्पति हमारा कल्याण करें। आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक त्रिविध तापों की शान्ति होवे]

ॐ ब्रह्मा देवानामित्याद्याथर्वणोपनिषत्। अस्याश्च विद्यासम्प्रदायकर्तृपारम्पर्यलक्षण-

---

यदक्षरं परं ब्रह्म विद्यागम्यमितीरितम्। यस्मिञ्ज्ञाते भवेज्ज्ञातं सर्वं तत्स्यामसंशयम् ॥१॥

ब्रह्मोपनिषद्गर्भोपनिषदाद्या अथर्वणवेदस्य बह्वच उपनिषदः सन्ति। तासां शारीरकेऽनुपयोगित्वेनाव्याचिख्यासितत्वाद[1]दृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्ते (ब्र० १।२।२१) रित्याद्यधिकरणोपयोगितया मुण्डकस्य व्याचिख्यासितस्य प्रतीकमादत्ते—ब्रह्मा देवानामित्याद्याथर्वणोपनिषदिति। व्याचिख्यासितेति शेषः। नन्वियमुपनिषन्मन्त्ररूपा मन्त्राणां चेषे त्वेत्यादीनां कर्मसम्बन्धेनैव प्रयोजनवत्त्वम्। एतेषां च मन्त्राणां कर्मसु विनियोजकप्रमाणानुपलम्भेन तत्सम्बन्धासम्भवान्निष्प्रयोजनत्वाद्व्याचिख्यासितत्वं न सम्भवतीति [2]शङ्कमानस्योत्तरम्। सत्यं कर्मसम्बन्धाभावेऽपि ब्रह्मविद्याप्रकाशन[3]सामर्थ्याद्विद्यया सम्बन्धो

'ब्रह्मा देवानाम्' इत्यादि अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् की व्याख्या भगवान् शङ्कराचार्य करना चाहते हैं। यों तो गर्भोपनिषद् आदि बहुत सी उपनिषदें अथर्ववेद की हैं। उनका उपयोग शारीरिक सूत्र (ब्रह्मसूत्र) में न होने के कारण उनकी व्याख्या भाष्यकार नहीं कर रहे हैं। किन्तु "अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः" इत्यादि अधिकरण में उपयोगी होने से मुण्डकोपनिषद् की व्याख्या अभीष्ट है। अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् के मन्त्रों का कर्म में विनियोजक कोई प्रमाण नहीं दीखता। इसलिये कर्म के साथ इनका संबंध सम्भव नहीं है। फिर भी इनका व्याख्यान करना इसलिये अभीष्ट है क्योंकि ब्रह्मविद्या के प्रकाशन में ये

---

१. अदृश्यत्वादीत्यादि यत्तदद्रेश्यमित्यादि श्रुतौ अदृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः परमात्मैव यः सर्वज्ञः सर्वविदित्यादिश्रूयमाणसर्वज्ञत्वादेः परमेश्वरधर्मस्य भूतयोनौ निर्देशादितिसूत्राक्षरार्थः। २. शङ्कमानस्योत्तरमिति शङ्कमानं प्रतीदमुत्तरमुच्यत इत्यर्थः। ३. सामर्थ्यादिति तदात्मकालिङ्गादित्यर्थः।

सम्बन्धमादावेवाऽऽह स्वयमेव स्तुत्यर्थम् । एवं हि महद्भिः परमपुरुषार्थसाधनत्वेन गुरुणाऽऽयासेन लब्धा विद्येति श्रोतृबुद्धिप्ररोचनाय विद्यां महीकरोति । स्तुत्या प्ररोचितायां हि विद्यायां सादराः [१]प्रवर्तेरन्निति । प्रयोजनेन तु विद्यायाः साध्यसाधनलक्षणसंबन्धमुत्तरत्र

भविष्यति । ननु विद्यायाः पुरुषकर्तृकत्वात्तत्प्रकाशकत्वेऽस्या उपनिषदोऽपि पौरुषेयत्वप्रसङ्गा[२]त्पाक्षिकपुरुषदोषजत्वशङ्कयाऽप्रामाण्याद्व्याचिख्यासितत्वं नोपपद्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—अस्याश्चेति । विद्यायाः [३]संप्रदायप्रवर्तका एव पुरुषा न [४]तूत्प्रेक्षया निर्मातारः । संप्रदायकर्तृत्वमपि नाधुनातनं येनानाश्वासः स्यात् किंत्वनादिपारम्पर्यागतम् । ततोऽनादिप्रसिद्धब्रह्मविद्याप्रकाशनसमर्थोपनिषदः पुरुषसम्बन्धः संप्रदायकर्तृत्वपारम्पर्यलक्षण एव तमादावेवाऽऽहेत्यर्थः । विद्यासम्प्रदायकर्तृत्वमेव पुरुषाणाम् । यथा विद्यायाः पुरुषसम्बन्धस्तथैवोपनिषदोऽपि यदि पुरुषसम्बन्धो विवक्षितः पौरुषेयत्वपरिहाराय तर्हि तथाभूतसंबन्धाभिधायकेन[५]ान्येन भवितव्यं [६]स्वयमेव स्वसंबन्धाभिधायकत्वे [७]स्ववृत्तिप्रसङ्गादित्याशङ्क्याऽऽह—स्वयमेव स्तुत्यर्थमिति । विद्यास्तुतौ तात्पर्यान्न [८]स्ववृत्तिर्दोष इत्यर्थः । स्तुतिर्वा किमर्थेत्यत आह—श्रोतृबुद्धीति । प्रवर्तेरन्निति पाठो युक्तः । वृतुधातोरात्मनेपदित्वात् । विद्याया यत्प्रयोजनं

स्वतन्त्र हैं। इस विद्या में पौरुषेयत्व की शंका नहीं कर सकते क्योंकि ब्रह्मादि देव एवं ऋषि इसके कर्ता नहीं हैं, अपितु सम्प्रदाय प्रवर्तक हैं। ब्रह्मादि वसिष्ठों की परम्परा से यह विद्या हम लोगों के पास तक आई है। ऐसा जानने से इसमें अनास्था नहीं होगी। इसलिये इसमें कहे गये पुरुष केवल विद्या सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं, विद्या के निर्माता नहीं।

इस उपनिषद् में कही गई विद्या, सम्प्रदाय के कर्ता एवं परम्परा रूप सम्बन्ध को प्रारम्भ में विद्या की स्तुति के लिये स्वयं ही श्रुति ने कहा है। इस प्रकार महान् पुरुषों द्वारा परम पुरुषार्थ के साधन रूप से अत्यन्तायास पूर्वक यह विद्या प्राप्त की गई। ऐसा जानने पर श्रोताओं की बुद्धि में इसके प्रति अभिरुचि उत्पन्न हो जाय। इसीलिये विद्या की महिमा गायी है क्योंकि स्तुति द्वारा विद्या में रुचि उत्पन्न करा देने पर अनायास ही आदर पूर्वक पुरुष प्रवृत्त हो जाता है।

ब्रह्मविद्या का जो प्रयोजन है, वही इस मुण्डकोपनिषद् का भी प्रयोजन है क्योंकि उपनिषद् के श्रवण आदि से ही ब्रह्मविद्या उत्पन्न होती है। इसलिये मोक्षरूप प्रयोजन साध्य है और ब्रह्मविद्या उसका साधन है। ऐसे ही ब्रह्मविद्या साध्य है और उपनिषद् उसका साधन है। इस प्रकार प्रयोजन के साथ विद्या का और विद्या के साथ उपनिषद् का साध्य-साधनरूप सम्बन्ध आगे श्रुति "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" इस वाक्य से बतलायेगी। संसार एवं उसके कारण की निवृत्तिरूप फल परा विद्या से ही प्राप्त हो सकता है। अपर शब्द वाच्य षडङ्ग-वेद आदि से नहीं क्योंकि वेद विधि और प्रतिषेध मात्र-परक हैं। ऐसी अपरा विद्या में संसार के कारण अविद्या आदि दोषों को निवृत्त करने की शक्ति नहीं है। इस बात को

१. प्रवर्तेरन्निति मुमुक्षव इतिशेषः। तथा चाधिकारिप्रदर्शनमनेन सम्पद्यत इतिभावः। २. पुरुषस्य दोषवत्त्वेऽपि वाक्यमात्रस्य तद्दोषप्रयुक्तत्वनियमासम्भवादाह-पाक्षिकेति सन्दिग्धपुरुषदोषजत्वेत्यर्थः। ३. सम्प्रदायेति उपदेशेतियावत्। ४. कल्पनया। ५. अन्येन भवितव्यमिति 'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययमितिवदिति भावः। ६. स्वयमेवेत्यादि स्वपुरुषसम्बन्धस्य स्वप्रतिपाद्यत्वे स्वस्यापि स्वप्रतिपाद्यत्वाज्ज्ञप्तावात्माश्रयः स्यात् स्वज्ञाने स्वस्य प्रतिपादकत्वेनापेक्षणादिति भावः। ७. यद्वा स्ववृत्तीत्यत्र वृत्तिर्व्यापारःस्वस्य स्वस्मिन्प्रतिपादकत्वात्मकस्तथा चैकत्र विरुद्धकर्तृकर्मभावप्रसङ्गो दोष इति भावः। ८. न स्ववृत्तिर्दोष इति तात्पर्यविषयीभूत एवार्थे सति सम्भव आत्माश्रयादीनां दोषत्वं प्रकृते तु स्वस्य प्रत्यक्षेणैवावगमान्न स्वप्रतिपादने तात्पर्यं स्तुतिमात्रविषयकत्वात्तात्पर्यस्येति भावः।

वक्ष्यति—"भिद्यते हृदयग्रन्थिः"[1] इत्यादिना । अत्र चापरशब्दवाच्यायामृग्वेदादिलक्षणायां विधिप्रतिषेधमात्रपरायां विद्यायां संसारकारणाविद्यादिदोषनिवर्तकत्वं नास्तीति स्वयमेवोक्त्वा परापरविद्याभेदकरणपूर्वकमविद्यायामन्तरे[2] वर्तमाना इत्यादिना । तथा परप्राप्तिसाधनं सर्वसाधनसाध्यविषय[3]वैराग्यपूर्वकं गुरुप्रसादलभ्यां[4]ब्रह्मविद्यामाह-परीक्ष्य[5]लोका-

---

तदेवास्या उपनिषदोऽपि प्रयोजनं भविष्यतीत्यभिप्रेत्य विद्यायाः प्रयोजनसम्बन्धमाह—प्रयोजनेन त्विति । संसारकारणनिवृत्तिर्ब्रह्मविद्याफलं चेत्तर्ह्यपरविद्ययैव तन्निवृत्तेः सम्भवान्न तदर्थं ब्रह्मविद्याप्रकाशकोपनिषद्व्याख्यातव्येत्याशङ्क्याऽऽह—अत्र चेति । संसारकारणमविद्यादिदोषस्तन्निवर्तकत्वमपरविद्यायाः कर्मात्मिकाया न सम्भवत्यविरोधात् । न हि शतशोऽपि प्राणायामं कुर्वतः शुक्तिदर्शनं विना तदविद्यानिवृत्तिर्दृश्यते । ततोऽपरविद्यायाः संसारकारणाविद्यानिवर्तकत्वं नास्तीति स्वयमेवोक्त्वा ब्रह्मविद्यामाहेति सम्बन्धः । किञ्च परमपुरुषार्थसाधनत्वेन ब्रह्मविद्यायाः परविद्यात्वं निकृष्टसंसारफलत्वेन च कर्मविद्याया अपरविद्यात्वम् । ततः समाख्याबलादपरविद्यायामोक्षसाधनत्वाभावोऽवगम्यत इत्यभिप्रेत्याऽऽह—परापरेति । यच्चाऽऽहुः कर्मजडाः केवलब्रह्मविद्यायाः [6]कर्तृसंस्कारत्वेन कर्माङ्गत्वात्स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थसाधनत्वं नास्तीति तदनन्तरश्रुत्यैव निराकृतमित्याह—तथा परप्राप्तिसाधनमिति । ब्रह्मविद्यायाः कर्माङ्गत्वे कर्मणो निन्दा न स्यात् । न खल्वङ्गविधानाय प्रधानं विनिन्द्यते । अत्र तु सर्वसाध्यसाधननिन्दया तद्विषयवैराग्याभिधानपूर्वकं परप्राप्तिसाधनं ब्रह्मविद्यामाह । अतो ब्रह्मविद्यायाः स्वप्रधानत्वात्तत्प्रकाशकोपनिषदां न[7] कर्तुः स्तावकत्वमित्यर्थः । यद्युपनिषदां स्वतन्त्रब्रह्म-

---

पर और अपर विद्या का भेद बतलाकर "अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः" इत्यादि वाक्य से स्वयं ही श्रुति बतलायेगी। अपराविद्या विधि-प्रतिषेध कर्मरूप है, उसका संसार के कारण अविद्या-आदि दोष के साथ कोई विरोध नहीं है। इसलिये वह अविद्या-आदि को निवृत्त नहीं कर सकती। सैकड़ों प्राणायाम करने पर भी सीप ज्ञान के बिना उसकी अविद्या एवं रजत भ्रांति मिटती हुई नहीं देखी गई है। अतः अपरा विद्या संसार के कारण अविद्या को नहीं मिटा सकती है। इसे स्वयं श्रुति कहती है। परन्तु परम पुरुषार्थरूप मोक्ष का साधन होने से ब्रह्मविद्या को पर किन्तु निकृष्ट संसार रूप फल का साधन होने से दूसरी को अपरा कहा गया है। ऐसी समाख्या के बल से भी अपरा विद्या में मोक्ष साधनत्वाभाव जाना जाता है। अपरा विद्या का साधन धनपुत्रादि हैं, और साध्य स्वर्गादि हैं। इन सम्पूर्ण साधन-साध्य विषयों से वैराग्य पूर्वक परा विद्या प्राप्त होती है। इसमें आचार्य कृपा भी असाधारण कारण है। इसीलिये दृष्टादृष्ट विषय वैराग्यपूर्वक गुरु कृपा से लभ्य ब्रह्मविद्या को "परीक्ष्य लोकान्" इत्यादि वाक्य द्वारा श्रुति बतलाती है। अतएव उपनिषद् श्रवण करने वाले अनेक साधकों में से जिसके ऊपर गुरु कृपा होती है, ऐसे विशिष्ट अधिकारी को ही ब्रह्मज्ञान हो पाता है; सबको नहीं।

"ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" (जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है) 'परामृताः परिमुच्यन्तिसर्वे' (निरपेक्ष अमृतत्व को प्राप्त हुये मनुष्य सदा के लिये मुक्त हो जाते हैं।) ऐसे वाक्यों से श्रुति बार-बार ब्रह्मविद्या के प्रयोजन मोक्ष को बतला रही है। ब्रह्मज्ञान स्वतन्त्र मोक्ष का साधन है, कर्म का अंग नहीं है। जिस प्रकार हाथ में कंकण होने पर भी विस्मृत हो जाने से कंकण अप्राप्त सा कहा जाता

---

१. मु० २।२।८ । २. मु० १।२।८ । ३. मु० वैराग्येति अनेनैव वा वैराग्यादिसम्पन्नोऽधिकारी सूचयितव्यः ।
४. ब्रह्मविद्यामिति-अनेन विषयमपि सूचयति । ५. मु० १।२।१२ । ६. कर्तृसंस्कारत्वेनेति विद्वान्यजेतेत्यादि श्रुत्या विद्याया यजमानसंस्कारत्वावगमादिति भावः । ७. न स्तावकत्वमिति आत्मनो ब्रह्मत्वबोधनं स्तुत्यभिप्रायेणेति भावः । कर्तुः स्तावकत्वमिति अत्र कतृ स्तावकत्वमित्येव लिखितः पाठः ।

नित्यादिना। प्रयोजनं चासकृदब्रवीति "[1]ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति'। [2]परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे इति च। ज्ञानमात्रे यद्यपि सर्वाश्रमिणामधिकारस्तथाऽपि [3]संन्यासनिष्ठैव ब्रह्मविद्या मोक्षसाधनं न कर्मसहितेति भैक्ष्यचर्यां[4] चरन्तः संन्यासयोगादिति च ब्रुवन्दर्शयति। विद्याकर्मविरोधाच्च। न हि ब्रह्मात्मैकत्वदर्शनेन सह कर्म स्वप्नेऽपि सम्पादयितुं शक्यम्।

विद्याप्रकाशकत्वं स्यात्तर्हि तदध्येतृणां सर्वेषामेव किमिति ब्रह्मविद्या न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—गुरुप्रसादलभ्यामिति। गुर्वनुग्रहादिसंस्काराभावात्सर्वेषां यद्यपि न भविष्यति तथाऽपि विशिष्टाधिकारिणां भविष्यतीति भावः। ननु स्वतन्त्रा चेद्ब्रह्मविद्या तर्हि [5]प्रयोजनसाधनं न स्यात्। सुख-दुःखप्राप्तिपरिहारयोः [6]प्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्यतावगमात्तत्राऽऽह—प्रयोजनं चेति। [7]स्मरणमात्रेण विस्मृतसुवर्णलाभे सुखप्राप्तिप्रसिद्धे रज्जुतत्त्वज्ञानमात्राच्च सर्पजन्यभयकम्पादिदुःखनिवृत्तिप्रसिद्धेश्च न प्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्यत्वं प्रयोजनस्यैकान्तिकम्। अतो विश्रब्धं श्रुतिः प्रयोजनसम्बन्धं विद्याया असकृदब्रवीति। तस्मात्तत्प्रकाशकोपनिषदो व्याख्येयत्वं सम्भवतीत्यर्थः। यच्चाऽऽहुरेकदेशिनः स्वाध्यायाध्ययनविधेरर्थावबोधफलस्य [8]त्रैवर्णिकाधिकारत्वादधीतोपनिषज्जन्ये [9]ब्रह्मज्ञानेऽस्त्येव सर्वेषामधिकारः। [10]ततः सर्वाश्रमकर्मसमुच्चितैव ब्रह्मविद्या मोक्षसाधनमिति तत्राऽऽह—ज्ञानमात्र इति। [11]सर्वस्व[12]त्यागात्मकसंन्यासनिष्ठैव परब्रह्मविद्या मोक्षसाधनमिति वेदो दर्शयति। तादृशसंन्यासिनां च कर्मसाधनस्य [13]स्वस्याभावान्न कर्मसम्भवः। [14]आश्रमधर्मोऽपि शमदमाद्युपबृंहितविद्याभ्यासनिष्ठत्वमेव। [15]तेषां शौचाचमनादिरपि तत्त्वो नाऽऽश्रमधर्मो लोकसंग्रहार्थत्वात्। ज्ञानाभ्यासेनैवापावनत्वनिवृत्तेः। "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" इति स्मरणात्। [16]त्रिषवणस्नानविध्यादेरज्ञसंन्यासिविषयत्वात्। अतः कर्मनिवृत्त्यैव साहित्यं ज्ञानस्य न

है और स्मरण दिलाने पर प्राप्त कंकण की प्राप्ति मानी जाती है। एवं रज्जु में त्रैकालिक सर्प का अत्यन्ताभाव होता हुआ भी भ्रान्त पुरुष को सर्प जन्य भय कम्प आदि दुःख होते ही हैं और रज्जु तत्त्व ज्ञान से इनकी निवृत्ति हो जाती है। ठीक वैसे ही आत्मरूप से नित्य प्राप्त ब्रह्म की भी अनादि अनिर्वचनीय अविद्या के कारण अप्राप्ति कही जाती है और तत्त्व ज्ञान से उसकी प्राप्ति मानी जाती है। वैसे ही अज्ञान जन्य सम्पूर्ण दुःख का वस्तुतः अभाव होता हुआ भी आत्मा में उनका आरोप होता है।

---

१. मु० ३।२।९। २. मु० ३।२।६। ३. संन्यासनिष्ठेति निष्ठावत्त्वमत्र सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन तथा च संन्याससमानाधिकरणेत्यर्थः। संन्यासनिष्ठैवेति अनेन च संन्यासिनां मुख्याधिकारित्वं सूच्यत इति ध्येयम्।

४. मु० १।२।११ भैक्ष्यचर्यामिति यद्यपि सगुणविद्यामधिकृत्येदमुक्तं तथापि सगुणविद्यायाः संन्यासनिष्ठत्वे निर्गुणविद्यायास्तु तत् कैमुत्यन्यायसिद्धमिति भावः। ५. प्रयोजनसाधनं न स्यादिति अत्रायं प्रयोगः विमता विफला प्रवृत्त्याद्यजनकत्वाद्व्यतिरेकि निदर्शनं कर्म विद्या इति। ६. प्रवृत्तीत्यादि ब्रह्मविद्यायाश्च प्रवृत्त्याद्यजनकत्वादिति भावः। ७. व्यतिरेकव्याप्तिं व्यभिचारयति स्मरणेत्यादिना। ८. त्रैवर्णिकाधिकारत्वादिति त्रैवर्णिकोद्देश्यकत्वादिति यावत्। ९. अर्थावबोधफलस्येति विधिवेशेण फलं व्यनक्ति ब्रह्मज्ञान इति। १०. तत इति ब्रह्मविद्या आश्रमकर्मसमुच्चितैव फलजनिका आश्रमिनिष्ठत्वात्कर्मविद्यावदिति भावः। ११. अनुमाने बाधं दर्शयन्ननाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः। स संन्यासीति सिद्धसाधनतामाशङ्क्य संन्यासं परिष्करोति सर्वस्वेत्यादिना।

१२. त्यागात्मकसंन्यासेति भैक्षचर्यामित्येवात्र गमकमिति भावः। १३. धनस्य। १४. संन्यासाश्रमधर्मात्मककर्मणैव समुच्चयमाशङ्क्याह आश्रमेति। यस्त्वात्मरतिरेव स्यादित्यादिस्मृतेरिति भावः। १५. "एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्तथा वामकरे दश। उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता॥ एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम्। त्रिगुणं तु वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुण" मिति शौचादिकर्माप्यस्ति संन्यासाश्रमधर्म इत्याशङ्क्य निषेधति तेषामित्यादिना। आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तयेत्यादिवचनादिति भावः। १६. 'प्रातर्मध्याह्नयोः स्नानं वानप्रस्थगृहस्थयोः। भिक्षूणां त्रिषवणमेकं तु ब्रह्मचारिणामिति व्यासोक्तलोकसंग्रहानुपयुक्तस्य गतिं वक्ति-त्रिषवणेत्यादिना। 'तस्य कार्यं न विद्यते' इत्यादि वचनादिति भावः। मु० ३।२।६।

विद्यायाः [1]कालविशेषाभावादनियतनिमित्तत्वात्कालसङ्कोचानुपपत्तिः। यत्तु गृहस्थेषु ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृत्वादि लिङ्गं न [2]तत्स्थितन्यायं बाधितुमुत्सहते। न हि विधिशतेनापि तमःप्रकाशयोरेकत्वसम्भवः शक्यते कर्तुं किमुत लिङ्गैः केवलैरिति। एवमुक्तसम्बन्ध-

कर्मणेत्यर्थः। इतश्च न कर्मसमुच्चिता विद्या मोक्षसाधनमित्याह—विद्याकर्मविरोधाच्चेति। अकर्तृ ब्रह्मैवास्मीति करोमि चेति स्फुटो व्याघात इत्यर्थः। यदा ब्रह्मात्मैकत्वं विस्मरति तदोत्पन्नविद्योऽपि करिष्यति ततः समुच्चयः सम्भाव्यत इति न वाच्यमित्याह—विद्याया इति। ननु गृहस्थानामङ्गिरःप्रभृतीनां विद्यासम्प्रदायप्रवर्तकत्वदर्शनाद्गृहस्थाश्रमकर्मभिः समुच्चयो लिङ्गादवगम्यत इत्या-

एवं आत्मज्ञान से उनकी निवृत्ति मानी जाती है। इसलिये यह वेदान्त-महावाक्य-जन्य ब्रह्मात्मैक्य बोध स्वतन्त्ररूप से प्रयोजन का साधन है। यह कर्म का अंग नहीं है।

यद्यपि ज्ञान मात्र में सभी आश्रमवासियों का अधिकार है; न कि केवल संन्यासी का। तथापि सर्वस्वत्याग रूप संन्यासनिष्ठ ही पर-ब्रह्म विद्या मोक्ष का साधन है, कर्म सहित ब्रह्मविद्या नहीं। क्योंकि "सम्पूर्ण एषणाओं से ऊपर उठकर भिक्षाचर्या करते हैं।" "संन्यास योग से युक्त हो" ये सब श्रुति बतलाती हैं। ब्रह्मविद्या तथा कर्म का परस्पर विरोध होने से भी ब्रह्मज्ञान का कर्म के साथ समुच्चय नहीं बनता। अकर्ता ब्रह्मस्वरूप ही मैं हूँ, पुनः कर्म करता हूँ, ऐसा मानना व्याघातदोष-ग्रस्त है। अतः ब्रह्मात्मैकत्व अपरोक्ष-अनुभव के साथ कर्म का सह-सम्पादन स्वप्न में भी कोई नहीं कर सकता, जाग्रत में करना तो दूर रहा। यदि कहो कि जब ब्रह्मज्ञानी अपने स्वरूप ब्रह्म को भूल जायेगा, उस समय ज्ञानकर्म समुच्चय की सम्भावना बन जायेगी। ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्मविद्या किसी काल विशेष की परिधि से घिरी हुई नहीं है और इसका निमित्त भी मियत नहीं है। इसलिये ब्रह्मज्ञान में कालका संकोच मानना अनुचित है। यदि कहो कि अंगिरा प्रभृति ऋषियों में ब्रह्मविद्या-सम्प्रदाय प्रवर्तकत्व देखा गया है। अतः गृहस्थाश्रम कर्म के साथ ब्रह्मज्ञान के समुच्चय में उक्त लिङ्ग स्पष्ट है। वैसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि गृहस्थ में भी ब्रह्मविद्या-सम्प्रदाय कर्तृत्व आदि लिङ्ग पूर्वोक्त न्याय को बाधने में समर्थ नहीं है। न्याय-युक्त लिंग ही किसी अर्थ का बोधक हो सकता है। जब ज्ञान और कर्म के समुच्चय में न्याय नहीं है बल्कि दोनों परस्पर विरोधी हैं, तो भला ऐसे दो परस्पर विरोधी का लिङ्ग से समुच्चय कैसे कह सकते हो? ब्रह्मविद्या के सम्प्रदाय-प्रवर्तकों में गार्हस्थ्य केवल आभास मात्र है, क्योंकि तत्त्व चिन्तन से उसका बार-बार बाध देखा गया है। इसलिये तो जनक ने अपना उद्गार प्रकट किया है 'मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दहति किञ्चन' अर्थात् मिथिलापुरी के जल जाने पर भी मेरा कुछ नहीं जलता।

परस्पर विरोधी अंधकार और प्रकाश को एक स्थान में सैकड़ों विधि वाक्य नहीं रख सकते, तो भला अकेले लिङ्ग से तत्त्वज्ञान और कर्म (विरोधी तत्त्व) का समुच्चय कैसे हो सकता है? इस प्रकार

१. कालसङ्कोचाभावे हेतुद्वयमाह—कालेत्यादिना। यथा नित्यस्य सन्ध्यावन्दनादेर्नियतकालत्वात्कालसङ्कोचो यथा वा नैमित्तिकस्य पुत्रजन्मादिनियतनिमित्तकत्वादेव कालसङ्कोचो न तथोत्पन्नविद्यायाः कालनिमित्तनियम इति कालसङ्कोचानुपपत्तिरित्यर्थः। कालविशेषाद्यभावश्च "नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। पश्यन्नि" त्यादिस्मृतेरवगम्यते। न च प्रमाणेनापरोक्षीकृतस्य विस्मरणं सम्भवि वृत्त्यभावमात्रं तु न विस्मरणं चिन्तनादिनाप्यनुपतिष्ठमाने एव विस्मृतं मयेति व्यवहारदर्शनादिति भावः। २. स्थितन्यायमिति न्यायसिद्धं विरोधमिति यावत्। ३. उक्तसम्बन्धेति-विषयग्रन्थसम्बन्धस्तु प्रतिपाद्यादिरूपः प्रसिद्ध एवेति नोक्तोऽप्युक्तप्राय एव पुरुषप्रयोजनसम्बन्धश्चोक्त एव उपलक्षणं चैतदधिकारिविषययोस्तयोरपि सूचितत्वादिति भावः।

प्रयोजनाया उपनिषदोऽल्पाक्षरं ग्रन्थविवरणमारभ्यते। ये इमां ब्रह्मविद्यामुपयन्त्यात्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसराः सन्तस्तेषां गर्भजन्मजरारोगाद्यनर्थपूगं [1]निशातयति परं वा ब्रह्म गमयत्यविद्यादिसंसारकारणं चात्यन्तमवसादयति विनाशयतीत्युपनिषत्। उपनिपूर्वस्य सदेरेवमर्थस्मरणात्।

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥१॥

[सम्पूर्ण इन्द्रादि देवताओं में (ज्ञान वैराग्यादि के कारण बढ़ा हुआ) ब्रह्मा पहले स्वयं उत्पन्न हुआ। वह विश्व का रचयिता तथा सम्पूर्ण भुवन का पालन करने वाला था। उसने समस्त विद्याओं की आश्रयभूत-ब्रह्मविद्या का उपदेश अथर्वा को किया ॥१॥]

शङ्कचाऽऽह—पत्त्विति। लिङ्गस्य [2]न्यायोपबृंहितस्यैव गमकत्वाङ्गीकारात्समुच्चये च न्यायाभावात्प्रत्युत बिरोधदर्शनान्न लिङ्गेन समुच्चयसिद्धिः। [3]सम्प्रदायप्रवर्तकानां च गार्हस्थ्यस्याऽऽभासमात्रत्वात्तत्त्वानुसन्धानेन मुहुर्मुहुर्बाधात्।

"यस्य मे चास्ति सर्वत्र यस्य मे नास्ति किञ्चन। मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किञ्चन दह्यते॥"

इत्युद्गारदर्शनात्[4]कर्माभासेन न समुच्चयः स्यात्तत्र[5] च विधिर्न दृश्यत इति भावः साधितं व्याख्येयत्वमुपसंहरति—एवमिति। ग्रन्थे कथमुपनिषच्छब्दप्रयोग इति शङ्कायामुपनिषच्छब्दवाच्यविद्यार्थत्वाल्लाक्षणिक इति दर्शयितुं विद्याया उपनिषच्छब्दार्थत्वमाह—य इमामिति। आत्मभावेनेति। प्रेमास्पदतयेत्यर्थः। अनर्थपूगं क्लेशसमूहं निशातयति [6]शिथिलीकरोत्य[7]परिपक्वज्ञानाद्[8]द्वित्रैर्जन्मभिर्मोक्षसम्भवादित्यर्थः।

इस उपनिषद् का सम्बन्ध और प्रयोजन बतला दिये हैं। अब उसका अल्पाक्षर ग्रन्थ—व्याख्यान प्रारम्भ करना सम्भव हो गया है। जो साधक इस ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करते हैं, अर्थात् श्रद्धा-भक्ति आदि साधन सम्पन्न हो आत्मभावेन ब्रह्म को जानते हैं, उनके गर्भवास, जन्म, जरा, रोग आदि सम्पूर्ण दुःख-समूह को यह ब्रह्मविद्या शिथिल कर डालती है। परब्रह्म को प्राप्त करा देती है और अविद्या आदि संसार-कारण को सर्वथा नष्ट कर डालती है। इसीलिये ब्रह्मविद्या को उपनिषद् कहते हैं क्योंकि उप-नि-पूर्वक सद् धातु का ऐसा ही अर्थ होता है। ऐसी ब्रह्मविद्या सम्पादक होने से ग्रन्थ को भी औपचारिक दृष्टि से उपनिषद् कहा गया।

"ज्ञानमप्रतिमं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः। ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सह सिद्धं चतुष्टयम्" ॥

---

१. सदेः प्रथमोक्तमर्थं विशरणमादायाह निशातयतीति। २. न्यायेति न हि निषादस्थपतिं याजयेदिति निषादस्याशेष यज्ञविद्याधिकारे लिङ्गमभ्युपेयत इति भावः। ३. न्यायविरोधाल्लिङ्गस्यान्यथानेयत्वं दर्शयन्नाह-सम्प्रदायेत्यादि।
४. अस्तु तर्ह्यविरोधात्कर्माभासेनैव समुच्चय इत्याशङ्क्याह-कर्मेत्यादि। ५. नेत्यत्र हेतुमाह-तत्र चेति। अविरोधेऽपि विध्यभावादेव न समुच्चयः। निष्फलत्वाच्चेति चार्थः। ६. अवसादयतीति वक्ष्यमाणेन पौनरुक्त्यभ्रमं वारयितुं निशातयतीत्येतत्परिष्करोति शिथिलीकरोतीति। ७. परिपक्वज्ञानस्यात्यन्तमवसादयतीत्यत्र विवक्षितत्वादिह विवक्षितमाह-अपरिपक्वेति। विद्यामिति सामान्योक्तेरिति भावः। शिथिलीकरणं विशदयति द्वित्रैरिति। शनैर्नश्यद्धि लोके शिथिलीभवद्व्यपदिश्यते। अपरिपक्वेरुक्त्या न यथाश्रुतस्यैव कारणत्वमयोगात् पक्वीभूतादिति च विवक्षितत्वादित्यवधेयम्। ८. द्वित्रैरिति कपिञ्जलाधिकरणन्यायेनेति ध्येयम्।

ब्रह्मा परिवृढो महान्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैः सर्वानन्यानतिशेत इति। देवानां द्योतनवतामिन्द्रादीनां प्रथमो गुणैः प्रधानः सन्प्रथमोऽग्रे वा सम्बभूवाभिव्यक्तः सम्यक्स्वातन्त्र्येणेत्यभिप्रायः। न तथा यथा धर्माधर्मवशात्संसारिणोऽन्ये जायन्ते। [1]"योऽसावतीन्द्रियोऽग्राह्यः" इत्यादिस्मृतेः। विश्वस्य सर्वस्य जगतः कर्तोत्पादयिता। भुवनस्योत्पन्नस्य गोप्ता पालयितेति [2]विशेषणं ब्रह्मणो विद्यास्तुतये। स एवं प्रख्यातमहत्त्वो ब्रह्मा ब्रह्मविद्यां ब्रह्मणः परमात्मनो विद्यां ब्रह्मविद्याम् [3]'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यम्' इति विशेषणात्परमात्मविषया हि सा। ब्रह्मणा वाऽग्रजेनोक्तेति ब्रह्मविद्या। तां [4]सर्वविद्याप्रतिष्ठां सर्वविद्याभिव्यक्तिहेतुत्वात्सर्वविद्याश्रयामित्यर्थः। सर्वविद्यावेद्यं वा वस्त्वनयैव विज्ञायत इति। "येनाश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्" इति श्रुतेः। सर्वविद्याप्रतिष्ठामिति च स्तौति विद्यामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ज्येष्ठश्चासौ पुत्रश्चा[5]नेकेषु ब्रह्मणः सृष्टिप्रकारेष्वन्यतमस्य सृष्टिप्रकारस्य [6]प्रमुखे [7]पूर्वमथर्वा सृष्ट इति ज्येष्ठस्तस्मै ज्येष्ठपुत्राय प्राहोक्तवान् ॥१॥

"ज्ञानमप्रतिमं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः। ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सह सिद्धं चतुष्टयम् ॥"
इति स्मरणाद्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैः सर्वानन्यानतिक्रम्य वर्तत इति परिवृढत्वं सिद्धमित्यर्थः।
"योऽसावतीन्द्रियोऽग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः। सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एष स्वयमुद्बभौ ॥"
'स्वयमुद्भूतः[8] शुक्रशोणितसंयोगमन्तरेणाऽऽविर्भूतः'—इति स्मृतेः। स्वातन्त्र्यं गम्यत इत्यर्थः। वाक्योत्थबुद्धिवृत्त्यभिव्यक्तं ब्रह्मैव ब्रह्मविद्या। तच्च ब्रह्म सर्वाभिव्यञ्जकम्। ततः सर्वविद्यानां व्यञ्जकतयाऽऽश्रीयत[9] इति सर्वविद्याश्रयाऽथवा सर्वविद्यानां प्रतिष्ठा परिसमाप्तिर्भवति यस्यामुत्पन्नायां ज्ञातव्याभावात्सा सर्वविद्याप्रतिष्ठेत्याह—सर्वविद्यावेद्यं वेति ॥१॥२॥

जिस जगत्पति में निःसीम ज्ञान, निःसीम वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म ये चारों एक साथ हों, उसको ब्रह्मा कहते हैं। इन ज्ञानादि के द्वारा ब्रह्मा सभी से बढ़ा-चढ़ा है। इसलिये उसे ब्रह्मा कहते हैं। द्योतन गुणवाले इन्द्रादि सभी देवताओं में गुणों के कारण वह ब्रह्मा प्रथम अर्थात् प्रधान है। अथवा इन्द्रादि-देवताओं से पहले वह शुक्र शोणित सम्बन्ध के विना ही स्वतन्त्र रूप से अभिव्यक्त हुआ। जैसे पुण्य-पाप कर्मवशात् संसारी जीव उत्पन्न होते हैं, उस प्रकार ब्रह्मा उत्पन्न नहीं हुआ। किन्तु स्वतन्त्र रूप से ही अभिव्यक्त हुआ था। 'जो वह इन्द्रियों से अतीत, अग्राह्य, सूक्ष्म और अव्यक्त सनातन कहा गया है। वह स्वयं ही प्रकट हुआ' ऐसी स्मृति भी है। वह सम्पूर्ण जगत् का उत्पादक है। एवं उत्पन्न हुए का पालक है। ब्रह्मा जगत् का स्रष्टा है, ऐसा कहना तो ठीक, किन्तु वह पालक भी है, यह केवल ब्रह्मा का विशेषण ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिये दिया है। इस प्रकार प्रख्यात महिमा वाले ब्रह्मा ने सम्पूर्ण विद्याओं की प्रतिष्ठा-रूप परमात्म-विद्या का उपदेश किया। "जिसके द्वारा त्रिकालाबाधित सत्य अक्षर पुरुष को

---

१. योऽसाविति। मनु० १।७ अत्र योऽसावतीन्द्रियग्राह्य इति पाठः कुल्लूकभट्टाभिमतः अतीन्द्रियं मनस्तद्ग्राह्य इति तेन व्याख्यातत्वादितिबोध्यम्। २. विशेषणमिति विशेषणद्वयमित्यर्थः। ३. मु०उ० १।२।१३। ४. विशेषणोक्तिफलं वक्ति-सर्वेत्यादिना। ५. भृग्वादयः (भृग्वादय इति महर्षय इत्यस्यार्थतोऽयं संग्रहः। समपूर्वे इत्यादि विरोधमाशङ्क्य कल्पभेदमादाय समाधत्ते-अनेकेष्वित्यादिना। ६. प्रमुखे आरम्भ इति यावत्। ७. पूर्वं प्रजान्तरापेक्षयेत्यर्थः। ८. भूत इत्यत्र भात इतियुक्तं वक्तुम्। ९. आश्रीयते-अपेक्ष्यतेऽङ्गीक्रियत इति वा अर्थः।

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम् ।
स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥२॥

[जिस विद्या का उपदेश ब्रह्मा जी ने अथर्वा को किया था उसी ब्रह्मविद्या का उपदेश प्राचीनकाल में अथर्वा ने अंगि नामक मुनि को किया और अंगि ने भरद्वाज गोत्र में उत्पन्न हुए सत्यवह नामक मुनि से कहा तथा भरद्वाज पुत्र सत्यवह ने शिष्य एवं पुत्र परम्परा से आई हुई उस विद्या को अंगिरा से कहा ॥२॥]

यामेतामथर्वणे प्रवदेतावदद्ब्रह्मविद्यां ब्रह्मा तामेव ब्रह्मणः प्राप्तामथर्वा पुरा पूर्वमुवाचोक्तवानङ्गिरेऽङ्गिर्नाम्ने ब्रह्मविद्याम् । स चाङ्गिर्भारद्वाजाय भरद्वाजगोत्राय सत्यवहाय सत्यवहनाम्ने प्राह प्रोक्तवान् । भारद्वाजोऽङ्गिरसे स्वशिष्याय पुत्राय वा परावरां परस्मात्परस्मादवरेण प्राप्तेति परावरा परावरसर्वविद्याविषयव्याप्तेर्वा तां परावरामङ्गिरसे प्राहेत्यनुषङ्गः ॥२॥

जानते हैं। वह ही ब्रह्मविद्या है।" ऐसा विशेषण परमात्म विद्या का कहा गया है। महावाक्य से उत्पन्न ब्रह्माकार वृत्ति में अभिव्यक्त ब्रह्म को ही ब्रह्मविद्या कहते हैं। अथवा अग्रजन्मा ब्रह्मा के द्वारा कही गई विद्या को ब्रह्मविद्या कहते हैं। सम्पूर्ण विद्याओं की अभिव्यक्ति का कारण होने से इसे सम्पूर्ण विद्याओं का आश्रय कहा गया है। अथवा सभी विद्याओं की वेद्य वस्तु इसी विद्या से जानी जाती है। इसके प्राप्त कर लेने पर कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता। अतः समस्त विद्याओं की समाप्ति रूप होने के कारण भी इस ब्रह्मविद्या को सम्पूर्ण विद्याओं की प्रतिष्ठा कहते हैं। जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है, अविज्ञात विज्ञात हो जाता है।' ऐसी दूसरी श्रुति भी है। अतः सम्पूर्ण विद्या की प्रतिष्ठा कह कर इसकी महत्ता-प्रतिपादन द्वारा स्तुति करते हैं, ऐसी ब्रह्मविद्या का उपदेश स्वयम्भू ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को किया था। ब्रह्मा की अनेक प्रकार की सृष्टियाँ हुई हैं, उनमें एक सृष्टि में अथर्वा को ही सर्व प्रथम सर्जन किया था। इसलिये अथर्वा ब्रह्मा का ज्येष्ठ पुत्र माना गया है। उस अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को ब्रह्मा ने पूर्वोक्त विशेषण विशिष्ट ब्रह्मविद्या का उपदेश स्पष्टरूप से कर दिया ॥१॥

ब्रह्मा ने जिस ब्रह्मविद्या का उपदेश अथर्वा को किया था—ब्रह्मा से प्राप्त उसी ब्रह्मविद्या का उपदेश बहुत प्राचीन काल में अंगिरा नामक ऋषि को अथर्वा ने किया। पुनः अंगिरा ने भरद्वाज गोत्र में उत्पन्न सत्यवह नाम वाले ऋषि को किया और भरद्वाज ने अपने शिष्य या पुत्र अंगिरस को किया। पहले के वृद्धों से पश्चात् भावी ऋषियों ने इस ब्रह्मविद्या को प्राप्त किया था। इसलिये इसे परावर कहते हैं। अथवा ऊँची से ऊँची और निम्न कोटि की विद्याओं के विषय में व्याप्त होने के इस विद्या को परावर कहते हैं। ऐसी परावर सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मविद्या का उपदेश भारद्वाज ने अंगिरस को किया। अन्तिम वाक्य में क्रिया वाचक पद न होने के कारण पूर्वोक्त वाक्य में कही गई 'प्राह' क्रिया का सम्बन्ध इस अन्तिम वाक्य में भी कर लेना चाहिये ॥२॥

शुनक के पुत्र महान् गृहस्थ शौनक ने शास्त्र विधि के अनुसार भारद्वाज के शिष्य आचार्य अंगिरस के पास जाकर पूछा। शौनक और अंगिरस के सम्बन्ध से पहले सम्भवतः गुरु उपसदन विधि पूर्वक नहीं किया जाता था। ऐसा जान पड़ता है। इसलिये इस मन्त्र में 'विधिवत् उपसन्नः' यह विशेषण

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ।
कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥३॥

[शुनक के पुत्र प्रसिद्ध महागृहस्थ शौनक ने भारद्वाज के शिष्य आचार्य अंगिरा के पास विधि पूर्वक जाकर पूछा। भगवन्! किस वस्तु के जान लेने पर यह सब कुछ ज्ञातव्य पदार्थ जान लिया जाता है? अर्थात् जिसे जानने के बाद फिर जानना शेष नहीं रह जाता ॥३॥]

शौनकः शुनकस्यापत्यं महाशालो महागृहस्थोऽङ्गिरसं भारद्वाजशिष्यमाचार्यं विधिवद्यथाशास्त्रमित्येतत्। उपसन्न उपगतः सन्पप्रच्छ पृष्टवान्। शौनकाङ्गिरसोः सम्बन्धाद[1]र्वाग्विधिवद्विशेषणादुपसदनविधेः पूर्वेषामनियम इति गम्यते। [2]मर्यादाकरणार्थं [3]मध्यदीपिकान्यायार्थं वा विशेषणम्। [4]अस्मदादिष्व[5]प्युपसदनविधेरिष्टत्वात्। किमित्याह-

---

[6]प्रश्नबीजमाह—एकस्मिन्निति। [7]उपादानात्कार्यस्य पृथक्सत्त्वाभावादुपादाने ज्ञाते तत्कार्यं ततः पृथङ्नास्तीति ज्ञातं भवतीति सामान्यव्याप्तिस्तद्बलाद्वा पप्रच्छेत्याह—अथवेति। प्रश्नाक्षरा[8]नुरूप्यमाक्षिप्य समाधत्ते—नन्वविदिते हीत्यादिना। किमस्ति तदिति प्रयोगेऽक्षरबाहुल्येनाऽऽयासः स्यात्तद्धीरुतया कस्मिन्नित्यक्षरा[9]नुरूप्ये लाघवात्प्रश्न इत्यर्थः ॥३॥४॥

दिया गया है। अथवा मध्य दीपिका न्याय बतलाने के लिये या मर्यादा करने के लिये उक्त विशेषण लगाया गया है क्योंकि समित्पाणि होकर विधिपूर्वक गुरु के पास जाना तो हम लोकों को भी इष्ट ही है।

क्या पूछा? इस पर कहते हैं। हे भगवन्! किसके जानने पर यह सम्पूर्ण विज्ञेय वस्तु विशेष रूप से ज्ञात हो जाती है? ऐसा शौनक ने पूछा। इस मंत्र में 'भगवः' शब्द सम्बोधन के लिये आया है। और 'नु' यह अव्यय वितर्क अर्थ में है। एक के जान लेने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है, ऐसा शिष्ट पुरुषों का वचन शौनक ने सुना था। अब उसके सम्बन्ध में विशेष जानने की इच्छा से 'कस्मिन्नु' ऐसे वितर्क करते हुए शौनक ने पूछा क्योंकि शिष्ट-वचनों के द्वारा सामान्य रीति से ज्ञात होने पर भी विशेषरूप से ज्ञात न होने के कारण प्रश्न बन जाता है। अथवा जगत् कार्य है, इसकी सत्ता अपने उपादान कारण से पृथक् नहीं है। अतः उपादान कारण के जान लेने पर कार्य ज्ञात होता है ऐसी समान्य व्याप्ति के बल से प्रश्न का होना अनिवार्य है। इस प्रकार लोक सामान्य दृष्टि से जानकर ही शौनक ने पूछा क्योंकि लोक में स्वर्णादि खण्ड विशेष लौकिक पुरुषों से स्वर्णत्वादि के जानने पर ज्ञात होते हुये देखे गये हैं। अतः सम्पूर्ण जगत् भेद का एक कौन-सा उपादान कारण है, जिसके जानने पर विश्वज्ञात हो जायेगा? यदि शौनक को जगत् कारण सर्वथा अज्ञात था तो प्रश्न 'कस्मिन् इति इस प्रकार बनता नहीं। ऐसी दशा में तो वह क्या है? इस प्रकार पूछना चाहिये था, क्योंकि अस्तित्व के सिद्ध

---

१. अर्वागिति उर्दागित्यर्थः। २. पूर्वेषामनियमज्ञानस्याकिञ्चित्करत्वेन विशेषणवैफल्यमाशङ्क्याह—मर्यादाकरणार्थमिति। उत्तरेषां नियमार्थमित्यर्थः। ३. अस्तु वा पूर्वेषामपि नियम इत्येवास्थायात्रैव विशेषणस्य गतिमाह—मध्यदीपिकेति। देहलीदीपकेत्यर्थः। ४. मयदित्यादि व्यनक्ति-अस्मदादिष्विति। ५. मध्येत्यादि दीपयति-अपीति पूर्वेषु चेत्यर्थः। ६. प्रश्नबीजमिति सामान्यतो ज्ञानमित्यर्थः। ७. शाब्दबीजमुक्त्वाऽऽनुमानिकं तदाहेत्याह—उपादानादित्यादिना। ८. आनुरूप्यमितिआनुरूप्यमित्यर्थः। ९. अक्षरानुरूप्ये-अक्षरप्रयोगे इति यावत्। एवमपि नानुसूयं नाक्षराणामित्याख्यातुमेवमुक्तिरिति ध्येयम्।

कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते नु इति वितर्के भगवो हे भगवन्सर्वं यदिदं विज्ञेयं विज्ञातं विशेषेण ज्ञातमवगतं भवतीत्येकस्मिञ्ज्ञाते सर्वविद्भवतीति शिष्टप्रवादं श्रुतवाञ्शौनकस्तद्विशेषं विज्ञातुकामः सन्कस्मिन्निति वितर्कयन्पप्रच्छ। अथवा लोकसामान्यदृष्ट्या ज्ञात्वैव पप्रच्छ। सन्ति लोके [1]सुवर्णादिशकलभेदाः सुवर्णत्वाद्येकत्वविज्ञानेन विज्ञायमाना लौकिकैः। तथा किन्वस्ति सर्वस्य जगद्भेदस्यैकं कारणम्। [2]यदेकस्मिन्विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवतीति। [3]नन्वविदिते हि कस्मिन्निति [4]प्रश्नोऽनुपपन्नः। किमस्ति तदिति तदा प्रश्नो [5]युक्तः। सिद्धे ह्यस्तित्वे कस्मिन्निति स्यात्। यथा [6]कस्मिन्निधेयमिति। न। अक्षरबाहुल्यादायासभीरुत्वात्प्रश्नः [7]सम्भवत्येव कस्मिन्विज्ञाते सर्ववित्स्यादिति ॥३॥

होने पर ही 'कस्मिन्' इस सप्तम्यन्त पद का प्रयोग हो सकता है। जैसे बहुत से आधार दीख रहे हों, तो इनमें से किस में अमुक वस्तु रक्खी जाय, ऐसा प्रश्न बनता है। सर्वथा अज्ञात रहने पर तो उक्त प्रकार का प्रश्न बनता ही नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वह क्या है, जिसके जानने पर सब ज्ञात हो जाता है, इस रीति से प्रश्न करने पर अक्षर अधिक हो जाने के कारण परिश्रम अधिक होगा। इस भय से मन्त्रोक्त रीति द्वारा प्रश्न होना सम्भव हो जाता ही है कि किस एक के जानने पर ज्ञाता सर्ववित् हो जाता है। इस प्रकार प्रश्न करने में लाघव ही है। अतः शौनक का मन्त्रोक्त प्रश्न करने का प्रकार ठीक ही हैं ॥३॥

उस शौनक से अंगिरा ने कहा कि दो विद्या संसार में जानने योग्य हैं। ऐसा वेद के तात्पर्य को जाननेवाले परमार्थदर्शी ब्रह्मज्ञानी लोग कहते हैं। वे कौन सी दो विद्या जानने योग्य हैं! इस पर ऋषि ने कहा कि परमात्मा को बतलानेवाली परा विद्या और पुण्य-पाप, उनके साधन एवं फल को बतलाने वाली अपरा विद्या है।

शङ्काः—किसके जानने पर सर्वज्ञ हो जाता है! ऐसा शौनक ने पूछा। इसके उत्तर में अंगिरा को यही बतलाना चाहिये था। दो विद्या जानने योग्य है, ऐसा अंगिरा का कहना बिना पूछे का ही उत्तर माना जायेगा। जिसके सम्बन्ध में शौनक ने पूछा ही नहीं, उनके उत्तर देने का उपक्रम अनुचित ही माना जायेगा। यह कोई दोष नहीं है। उत्तर देने में क्रम की अपेक्षा तो होती ही है। अपरा विद्या वस्तुतः अविद्या स्वरूप ही है। उसका निराकरण करना भी आवश्यक है। अपरा विद्या के विषय ज्ञात होने पर वास्तव में कुछ विदित नहीं होता है। इस प्रकार पूर्व पक्ष का खण्डन करने के बाद ही सिद्धान्त का निरूपण आवश्यक होता है। इस न्याय से खण्डनीय पक्ष और निरूपणीय पक्ष, उभय को बतलाना कोई अनुचित नहीं है ॥४॥

इन दोनों में अपरा विद्या कौनसी है? इस प्रश्न का उत्तर श्रुति आगे दे रही है कि ऋग्वेद,

---

१. सुवर्णादिशकलभेदा इति सुवर्णादिखण्डात्मकाभूषणभेदा इत्यर्थः। २. यदेकस्मिन्निति यस्मिन्नेकस्मिन्निति समासः। ३. अविदित इति अनिश्चितास्तित्वे इत्यर्थः। ४. प्रश्नोऽनुपपन्न इति कस्मिन्निति सप्तम्या अस्तित्वनिश्चयावद्योतकत्वेन अस्तित्वनिश्चयात् प्राक्सप्तमीघटितप्रश्नो न न्याय्य इति भावः। ५. युक्त इति किमस्ति तदिति प्रथमाघटितप्रश्नस्यास्तित्वप्रश्नगर्भितत्वेन स न्याय्य इत्यर्थः। ६. कस्मिन्निधेयमिति निधानाधारनिश्चये हि सत्ययं प्रश्नस्तद्वदित्यर्थः। ७. सम्भवत्येवेति-अस्यापि प्रश्नस्यास्तित्वप्रश्नगर्भत्वानपायादिति भावः।

तस्मै स होवाच । द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह ।
स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥४॥

[उस शौनक से अंगिरा ने कहा, कि ब्रह्मवेत्ताओं ने कहा है, जानने योग्य विद्याएँ दो ही हैं। एक परा और दूसरी अपरा। परमात्मा विद्या को परा और धर्माधर्म के साधन, उनके फल सम्बन्धी विद्या को अपरा कहते हैं ॥४॥]

तस्मै शौनकायाङ्गिरा ह किलोवाच । किमित्युच्यते । द्वे विद्ये वेदितव्ये इति । एवं ह स्म किल [1]यद्ब्रह्मविदो वेदार्थाभिज्ञाः परमार्थदर्शिनो वदन्ति । के ते इत्याह । परा च परमात्मविद्या । अपरा च धर्माधर्म[2]साधनतत्फलविषया । ननु कस्मिन्विदिते सर्वविद्भवतीति शौनकेन पृष्टं तस्मिन्वक्तव्येऽपृष्टमाहाङ्गिरा द्वे विद्ये इत्यादि । नैष दोषः । क्रमापेक्षत्वात्प्रतिवचनस्य । [3]अपरा हि विद्याऽविद्या सा निराकर्तव्या । तद्विषये हि विदिते [4]न किञ्चित्तत्त्वतो विदितं स्यादिति । निराकृत्य हि पूर्वपक्षं पश्चात्सिद्धान्तो वक्तव्यो भवतीति न्यायात् ॥४॥

कल्पः [5]सूत्रग्रन्थः । अनुष्ठेयक्रमः कल्प इत्यर्थः । अविद्याया अपगम एव परप्राप्तिरुपचर्यते । अविद्यापगमश्च ब्रह्मावगतिरेवेति व्याख्यातमस्माभिर्ज्ञातोऽर्थस्तज्ज्ञप्तिर्वाऽविद्यानिवृत्तिरित्येतद्व्याख्यानावसरे । अतोऽधिगमशब्दोऽत्र प्राप्तिपर्याय एवेत्याह—न च परप्राप्तेरिति । साङ्गानां वेदानामपरविद्यात्वेनोपन्यासात्ततः पृथक्करणाद्वेद[6]बाह्यतया ब्रह्मविद्यायाः परत्वं न सम्भवतीत्याक्षिपति—नन्विति । [7]"या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः । सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः"

इति स्मृतेः कुदृष्टित्वादनुपादेया स्यादित्यर्थः । विद्याया वेदबाह्यत्वे तदर्थानामुपनिषदामप्यृग्वेदादिबाह्यत्वं प्रसज्येतेत्यर्थः । वेदबाह्यत्वेन पृथक्करणं न भवति । किन्तु वैदिकस्यापि ज्ञानस्य [8]वस्तुविषयस्य [9]शब्दराश्यतिरेकाभिप्रायेणेत्याह—न वेद्यविषयेति ॥५॥

यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, ये चारों वेद हैं और शिक्षा कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष ये छः वेद के अङ्ग हैं। इस सम्पूर्ण अक्षर राशि को अपरा विद्या कहा है। उक्त अपरा विद्या से भिन्न यह परा विद्या कही गई है। जिसके द्वारा आगे कहे जाने वाले विशेषणों से विशिष्ट उक्त अक्षर ब्रह्म प्राप्त हो जाता है। अधिपूर्वक 'गम्' धातु का प्रायशः प्राप्ति अर्थ ही होता है। पर ब्रह्म की प्राप्ति और अवगम इन दोनों का कोई भिन्न अर्थ नहीं है। अविद्या का हट जाना ही परमेश्वर की प्राप्ति है और कोई दूसरा अर्थ नहीं है।

---

१. यदिति ये इत्यर्थः । यस्मादिति वा । २. तदिति बोध्यम् । ३. ननु क्रमापेक्षायामपि परां पुरोक्त्वा ततस्तद्विषयोक्तिरेव न्याय्याऽपरोक्तिस्तु क्वोपयुज्यत इत्याशङ्क्याह-अपरा हीति । ४. न किञ्चिदिति-तया यद्विदितं न तद् याथात्म्येनाध्यस्तमात्रविषयत्वात्तस्या इति भावः । त्रैगुण्यविषया वेदा इति स्मृतेः । ५. सूत्रग्रन्थ इति कात्यायनाश्वलायनापस्तम्बबौधायनादिमुनिरचितसूत्रसन्दर्भ इत्यर्थः । तद्विषयं व्यनक्ति-अनुष्ठेयक्रमः कल्प इति । कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽनेनेति व्युत्पत्तेः । ६. बाह्यतया—अनन्तर्गतत्वेनेत्यर्थः । ७. या वेदेति मनु. १२. अ. ९५ श्लोक. अत्र तमोनिष्ठत्वं नरकफलकत्वमिति कुल्लूकभट्टः-अज्ञानमूलकत्वमिति वाऽवगन्तुमर्हम् । ८. धर्मज्ञानस्यापि पृथगुक्तिप्रसङ्गं वारयितुं विशिनष्टि-वस्तुविषयस्येति । ९. शब्दराश्यतिरेकेति शब्दसमूहात्मकवेदापेक्षया भेदेत्यर्थः ।

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥५॥

[उनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष्; यह साङ्ग चतुर्वेद अपरा विद्या है और जिससे उस अक्षर परमात्मा का ज्ञान होता है वह परा विद्या है ॥५॥]

तत्र काऽपरेत्युच्यते । ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद इत्येते चत्वारो वेदाः [1]शिक्षा कल्पो व्याकरणं [2]निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमित्यङ्गानि षडेषाऽपरा विद्या । अथेदानीमियं परा विद्योच्यते यया [3]तद्वक्ष्यमाणविशेषणमक्षरमधिगम्यते प्राप्यते । अधिपूर्वस्य गमेः प्रायशः प्राप्त्यर्थत्वात् । [4]न च परप्राप्तेरवगमार्थस्य च भेदोऽस्ति । [5]अविद्याया अपाय

शङ्काः—ऋग्वेदादि से यदि बाह्य ब्रह्मविद्या है तो भला यह परा विद्या कैसे कही जाती है ? और वह मोक्ष का साधन कैसे हो सकती है क्योंकिः—

"या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥"

(जो वेद बाह्य स्मृतियाँ हैं और जो कोई भी कुदृष्टियाँ हैं, वे सबकी सब निष्फल हैं, इनके आश्रय लेने वाले मर कर नरकादि योनियों को प्राप्त होते हैं ।)

अतः वेदबाह्य वे स्मृतियाँ तमोनिष्ठ कही गई हैं । कुदृष्टि होने से निष्फल है, इसीलिये वेदबाह्य ब्रह्मविद्या भी त्यागने योग्य ही है; ग्रहण के योग्य नहीं । साथ ही ब्रह्मविद्या के जनक उपनिषदों में ऋग्वेदादि से बाह्यत्व आने लग जायेगा और यदि वे उपनिषदें ऋग्वेदादि रूप हैं तो फिर उन्हें ऋग्वेदादि से पृथक् बतलाना अनर्थक है । अतः इसे परा विद्या कैसे कह रहे हो ?

समाधानः—परा विद्या से वेद्य ब्रह्म विषयक विज्ञान को ही बतलाना अभीष्ट है । उपनिषद्वेद्य अक्षर ब्रह्म को बतलाने वाले विज्ञान को ही इस मन्त्र में प्रधान रूपेण परा विद्या कहना अभीष्ट है; उपनिषदों की शब्द राशि को नहीं । किन्तु वेद शब्द से सर्वत्र शब्द राशि ही कही गयी, शब्दराशिरूप ऋग्वेदादि के ग्रहण हो जाने पर भी गुरु उपसदन आदि और वैराग्यरूप यत्नान्तर के बिना अक्षर-ब्रह्म का ज्ञान सम्भव नहीं होता । इसीलिये शब्दराशि से ब्रह्मविद्या को पृथक् करके परा विद्या शब्द के द्वारा कहा है । तात्पर्य यह है कि उपनिषद् महावाक्य से उत्पन्न ब्रह्माकारवृत्ति में अभिव्यक्त-ब्रह्म-चैतन्य ही परा विद्या शब्द से कहा गया है । ऐसी परा विद्या की अभिव्यक्ति में ब्रह्माकारवृत्ति कारण है । और उस ब्रह्माकारवृत्ति का जनक उपनिषद् महावाक्य है । अतः ब्रह्मविद्या को वेदबाह्य नहीं कह सकते ।

---

१. शिक्षेति-अकारादिवर्णानां स्थलकरणप्रयत्नबोधकं याज्ञवल्क्यादिकृतं शिक्षाशास्त्रमित्यर्थः । २. निरुक्तमिति- "वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ । धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥"

३. वक्ष्यमाणविशेषणमिति-विशेषणमद्रेश्यत्वादि । ४. ननु विद्ययाऽऽवरणभङ्गेन वस्तु साक्षात्क्रियते न त्वप्राप्तं प्राप्यत इति कथं विद्ययाऽधिगमः प्राप्तिरित्याशङ्क्याह-न च परप्राप्तेरित्यादि । ५. एवं तर्हि स्वरूपसाक्षात्कारस्य नित्यत्वाद्विद्ययाधिगम्यत इति विद्याजन्यत्वोक्तिरसङ्गतेत्याशङ्क्याह-अविद्याया इति । अविद्यानिवृत्त्युपलक्षितस्वरूप-साक्षात्कारः प्राप्तिस्तत्रोपलक्षणस्य जन्यत्वादुपलक्षितस्य यथोक्तिरविरुद्धेति भावः ।

एव हि परप्राप्तिर्नार्थान्तरम् । ननु ऋग्वेदादिबाह्या तर्हि सा कथं परा विद्या स्यान्मोक्षसाधनं च । या वेदबाह्याः स्मृतय इति हि स्मरन्ति । कुदृष्टित्वान्निष्फलत्वादनादेया स्यात् । उपनिषदां च ऋग्वेदादिबाह्यत्वं स्यात् । ऋग्वेदादित्वे तु पृथक्करणमनर्थकम् । अथ परेति । न । वेद्यविषयविज्ञानस्य विवक्षितत्वात् । उपनिषद्वेद्याक्षरविषयं हि विज्ञानमिह परा विद्येति [1]प्राधान्येन विवक्षितं नोपनिषच्छब्दराशिः । वेदशब्देन तु सर्वत्र शब्दराशिर्विवक्षितः । [2]शब्दराश्यधिगमेऽपि यत्नान्तरमन्तरेण गुर्वभिगमनादिलक्षणं वैराग्यं च नाक्षराधिगमः सम्भवतीति पृथक्करणं ब्रह्मविद्यायाः परा विद्येति कथनं चेति ॥५॥

कर्मज्ञानाद्विलक्षणत्वाभिप्रायेण च पृथक्करणमित्याह—यथा विधिविषय इति । **अप्राप्तप्रतिषेधप्रसङ्गान्न [3]प्रधानपरत्वमपि शङ्कनीयमिति मत्वाऽऽह**—यः सर्वज्ञ इति । अगुणत्वादिति । **[4]उपसर्जनरहितत्वादित्यर्थः** । सर्वात्मकत्वाच्चेति । **हेयस्यातिरिक्तस्याभावाच्चेत्यर्थः** ॥६॥

जिन मन्त्रों में अक्षर और पाद नियत हों, ऐसे मन्त्रों को ऋग्-मन्त्र कहते हैं । एवं इस प्रकार के मन्त्र जिसमें अधिक हों, उसको ऋग्वेद कहते हैं । जिन मन्त्रों में अक्षर और पाद नियत नहीं हों, उन्हें यजुर्मन्त्र कहते हैं और ऐसे मन्त्रों की बहुलता रहने के कारण यजुर्वेद कहा गया है । गीति प्रधान मन्त्र को साम मन्त्र कहते हैं और ऐसे मन्त्र जिसमें अधिक हों, उसे सामवेद कहते हैं । अर्थ आदि समृद्धि एवं ग्रहादि शान्ति करानेवाले मन्त्र जिसमें बहुत्व करके हों, उसे अथर्ववेद कहते हैं । अकारादिवर्ण, ह्रस्वादि मात्रा, उदात्त आदि स्वर एवं अन्यवर्ण सम्बन्धी उपदेश जिसमें हों, पाणिनीय आदि महर्षि के रचे गये ग्रन्थ को शिक्षा कहते हैं । योगादि कर्म में अनुष्ठेय पदार्थों का क्रम बतलाने वाले ग्रन्थ को कल्प कहते हैं । पद के साधुत्व ज्ञान कराने वाले शास्त्र को व्याकरण कहते हैं । वैदिक शब्दों की विलक्षण ढंग से व्युत्पत्ति, अर्थ एवं पर्याय बतलाने वाले शास्त्र को निरुक्त कहते हैं । वृत्तग्रन्थ को छन्द कहते हैं । ग्रहों की गति बतलाने वाले शास्त्र को गणित ज्योतिष तथा व्यक्ति एवं राष्ट्र के भाग्य को बतलाने वाले शास्त्र को फलित ज्योतिष कहते हैं । इस प्रकार चारों वेद एवं वेद के छः अङ्गों का संक्षेप रूप से विवेचन किया गया, विस्तारभय से उदाहरण आदि नहीं दिये गये हैं ।

कर्मज्ञान की अपेक्षा ब्रह्मज्ञान में विलक्षणता बतलाने के लिए भगवान् भाष्यकार कहते हैं:—जैसे विधि के विषय कर्म में वाक्यार्थ ज्ञान हो जाने के बाद कर्ता आदि अनेक कारकों के संग्रह पूर्वक ही अग्निहोत्रादि कर्म का अनुष्ठान करना पड़ता है । वह अनुष्ठेय अर्थ वाक्यार्थ ज्ञान के बाद सम्पन्न किया जाता है । वैसा यहाँ पर परा विद्या के विषय में नहीं है । किन्तु महावाक्य के अर्थ-बोध होते ही ब्रह्मात्मैक्य स्थिति प्राप्त हो जाती है । एवं ब्रह्मविद्या का मोक्ष रूप फल भी तत्काल ही प्राप्त हो जाता है ।

---

१. प्राधान्येनेति गुणतस्तूपनिषच्छब्दराशावपि पराविद्येति व्यवहारो न वार्यत इति भावः । २. ननूपपन्नमपि निष्फलत्वादकार्यं तदित्याशङ्क्याह—शब्दराश्यधिगमे स्वसामग्र्या एव निष्पन्ने सत्यपि गुर्वभिगमनवैराग्यादिरूपयत्नान्तरमन्तरेणाक्षराधिगमस्तु न सम्भवतीत्यावेदयितुं पृथक्करणमित्यर्थः । ३. प्रधानपरत्वमपीति पृथक्करणाद्वेदबाह्यत्वमिवेत्यपेरर्थः । ४. नन्वदृश्यत्वादिगुणक इत्युक्तेरगुणत्वादिति विरुद्धमित्याशङ्क्य व्याकरोति उपसर्जनेति । उपसर्जनस्य भेदसापेक्षत्वात् स्वरूपभिन्नविशेषणशून्यत्वादित्यर्थः । अदृश्यत्वादीनां चाभावत्वादिना स्वरूपानतिरेकान्नते विरोध इति भावः । सूत्रे तथोक्तिविवक्षावशादेवेति ध्येयम् ।

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥६॥

[वह जो अदृश्य (इन्द्रियों का अविषय) अग्राह्य (कर्मेन्द्रियों का अविषय) अगोत्र, अवर्ण और चक्षु श्रोत्रादि से रहित है, ऐसे ही पाणिपाद से रहित, नित्य, विभु, सर्वव्यापक अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यय है तथा जो सम्पूर्ण भूतों का कारण है, उसे विवेकी पुरुष सभी ओर देखते हैं ॥६॥]

यथा [1]विधिविषये कर्त्राद्यनेककारकोपसंहारद्वारेण वाक्यार्थज्ञानकालादन्यत्रानुष्ठेयोऽर्थोऽस्त्यग्निहोत्रादिलक्षणो न तथेह परविद्याविषये । वाक्यार्थज्ञानसमकाल एव तु पर्यवसितो भवति । केवलशब्दप्रकाशितार्थज्ञानमात्र[2]निष्ठाव्यतिरिक्ताभावात् । तस्मादिह परां विद्यां सविशेषणेनाक्षरेण विशिनष्टि—यत्तदद्रेश्यमित्यादिना । [3]वक्ष्यमाणं बुद्धौ संहृत्य सिद्धवत्परामृश्यते—यत्तदिति । [4]अद्रेश्यमदृश्यं सर्वेषां बुद्धीन्द्रियाणामगम्यमित्येतत् । [5]दृशेर्बहिष्प्रवृत्तस्य पञ्चेन्द्रियद्वारकत्वात् । अग्राह्यं कर्मेन्द्रियाविषयमित्येतत् । अगोत्रं गोत्रमन्वयो मूलमित्यनर्थान्तरम् । अगोत्रमनन्वयमित्यर्थः । न हि तस्य मूलमस्ति येनान्वितं स्यात् । [6]वर्ण्यन्त इति वर्णा द्रव्यधर्माः स्थूलत्वादयः शुक्लत्वादयो वा । अविद्यमाना वर्णा यस्य तदवर्णमक्षरम् । अचक्षुःश्रोतं चक्षुश्च श्रोत्रं च नामरूपविषये करणे सर्वजन्तूनां ते अविद्यमाने यस्य तदचक्षुःश्रोत्रम् । यः सर्वज्ञः सर्वविदित्यादिचेतनावत्त्वविशेषणत्वात्प्राप्तं संसारिणामिव चक्षुःश्रोत्रादिभिः करणैर[7]र्थसाधकत्वं तदिहाचक्षुः—

कर्म विज्ञान से कर्म का फल नहीं मिलता किन्तु कर्म विज्ञान के बाद कृषि आदि लौकिक और याग आदि वैदिक कर्म के अनुष्ठान से फल प्राप्त होता है। वह भी अनुष्ठान काल में नहीं, किन्तु कालान्तर में। इसके विपरीत महावाक्यार्थ ज्ञानकाल में ही ब्रह्मात्मैक्य स्थिति रूप मोक्षफल प्राप्त हो जाता है अतः केवल शब्द से प्रकाशित अर्थ के अपरोक्ष ज्ञान मात्र में निष्ठा ही पराविद्या का फल है, इससे भिन्न नहीं। इसीलिये अनेक विशेषणों से युक्त अक्षर ब्रह्म द्वारा पराविद्या को 'यत्तदद्रेश्यम्' इत्यादि वाक्य द्वारा विशेष रूप से श्रुति बतला रही है। सिद्ध वस्तु के समान आगे बतलाये जाने वाले अक्षर ब्रह्म को बुद्धि में रख कर 'यद् तद्' इस वाक्य से श्रुति परामर्श कर रही है। सभी ज्ञानेन्द्रियों से न जानने योग्य होने के कारण अक्षर को अदृश्य कहा गया है। क्योंकि पञ्च ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही चित्त वृत्ति बाहर जाती है तथा पञ्च कर्मेन्द्रियों से ग्रहण न होने के कारण अग्राह्य कहा गया है। उसका कोई मूल नहीं है जिससे वह अन्वित हो सके। जो वर्णन किये जायें, ऐसे स्थूलत्व आदि या शुक्लत्व आदि द्रव्यधर्मको वर्ण कहा गया है। वे वर्ण-धर्म जिसमें नहीं हों, उसे अवर्ण कहते हैं। अतः अक्षरब्रह्म अवर्ण है। नाम (शब्द) को विषय करने वाला श्रोत्र और रूपको विषय करनेवाली आँख, ये इन्द्रियाँ सभी जीवों के पास हैं। ऐसी इन्द्रियां जिसे नहीं हों, उस ब्रह्मको अचक्षुःश्रोत्रम् कहा गया है। आगेके मन्त्र परमात्मा

---

१. विधिविषये विधेविषये कर्मणि वाक्यार्थज्ञानेत्यन्वयस्तथा च कर्मविषयकवाक्यार्थज्ञानेत्यर्थः । यद्वा विधिविषये कर्मकाण्डे यद्वाक्यार्थज्ञानं तत्कालादित्यर्थः । एवं परविद्याविषये इत्यत्राप्यवगन्तव्यम् । २. निष्ठाव्यतिरिक्ताभावादिति मनननिदिध्यासनाभ्यां ब्रह्मात्मैक्यज्ञाननिष्ठैव सम्पादनीया नान्यत्कर्तव्यमिति भावः ३. वक्ष्यमाणमिति अद्रेश्यत्वादिविशेषणगणमित्यर्थः । ४. अदृश्यंदृगविषयः दृक् च वृत्तिफलिता चित् । ५. दृशेरिति वृत्तिचित इत्यर्थः । ६. वर्ण्यन्त इति विशेषणत्वेन सम्बध्यन्त इत्यर्थः ७. अर्थसाधकत्वं तत्प्रकाशकत्वम् ।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥७॥

[जैसे लोक प्रसिद्ध मकड़ी (अन्य साधनों के बिना ही अपने शरीर से अभिन्न) तन्तुओं को बनाती है और निगल जाती है। जैसे पृथिवी में ओषधियां उत्पन्न होती हैं तथा जैसे सजीव पुरुष में (उससे विलक्षण) केश और लोम उत्पन्न होते हैं वैसे ही उस अक्षर से समस्त जगत् उत्पन्न होते हैं ॥७॥]

श्रोत्रमिति वार्यते। "पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" इत्यादिदर्शनात् । किञ्च तदपाणिपादं कर्मेन्द्रियरहितमित्येतत् । यत एवमग्राह्यमग्राहकं [1]चातो नित्यमविनाशि । विभुं विविधं ब्रह्मादिस्थावरान्तप्राणिभेदैर्भवतीति विभुम् । सर्वगतं व्यापकमाकाशवत्सुसूक्ष्मं शब्दादिस्थूलत्वकारणरहितत्वात् । शब्दादयो ह्याकाशवाय्वादीनामुत्तरोत्तरं स्थूलत्वकारणानि तदभावात्सुसूक्ष्मम् । किञ्च तदव्ययमु[2]क्तधर्मत्वादेव न व्येतीत्यव्ययम् । न [3]ह्यनङ्गस्य [4]स्वाङ्गापचयलक्षणो व्ययः सम्भवति शरीरस्येव । नापि कोशापचयलक्षणो व्ययः सम्भवति राज्ञ इव । नापि गुणद्वारको व्ययः सम्भवत्यगुणत्वात्सर्वात्मकत्वाच्च । यदेवंलक्षणं भूतयोनिं भूतानां कारणं [5]पृथिवीव स्थावरजङ्गमानां परिपश्यन्ति सर्वत आत्मभूतं सर्वस्याक्षरं पश्यन्ति धीरा [6]धीमन्तो विवेकिनः । ईदृशमक्षरं यया विद्ययाऽधिगम्यते सा परा विद्येति समुदायार्थः ॥६॥

को सर्वज्ञ और सर्ववित् इत्यादि चेतन के विशेषण बतलाये गये हैं। इससे संसारी जीवों के समान चक्षुःश्रोत्र आदि इन्द्रियों द्वारा वह भी विषयों को जानता होगा—ऐसा प्रसङ्ग प्राप्त हो जाता है। इसलिये 'अचक्षुःश्रोत्रम्' इस पद के द्वारा उक्त संसारी धर्म का निषेध किया गया है क्योंकि 'वह परमात्मा बिना आँख के सबको देखता है। बिना श्रोत्र के सब कुछ सुनता है' इत्यादि श्रुतियाँ देखी गई हैं। वैसे ही हस्तादि कर्मेन्द्रियों से रहित होने से वह अपाणिपाद कहा गया है। इस प्रकार वह न ग्राह्य है और न ग्राहक ही है। इसीलिये नित्य अविनाशी है। ब्रह्मादि स्थावर पर्यन्त प्राणिभेद से अनेक रूप में वही बना हुआ है। इसीलिये उसे विभु कहते हैं। आकाश के समान वह व्यापक है। अर्थात् शब्दादि धर्म जो स्थूलत्व के प्रयोजक हैं, उनसे रहित रहने के कारण वह अत्यन्त सूक्ष्म है। शब्दगुणवाला आकाश स्थूल है। उससे भी स्थूल वायु है क्योंकि उसमें शब्द और स्पर्श दो गुण हैं। ऐसे ही शब्द स्पर्श रूप ऐसे तीनगुण अग्नि में हैं। रस सहित पूर्वोक्त गुण जल में हैं और गन्ध एवं पहले के चारों गुण पृथिवी में हैं। इसलिये उत्तरोत्तर ये स्थूल कहे गये हैं क्योंकि ये सब स्थूलता के कारण हैं। ऐसे स्थूलत्व के कारण शब्दादि गुण होने से वह अक्षर ब्रह्म अत्यन्त सूक्ष्म है। पूर्वोक्त स्थूलत्व के कारण शब्दादि गुणों का अभाव रहने से उस अक्षर का व्यय या नाश नहीं होता। इसीलिये वह अव्यय कहा

---

१. अत इति अन्वये मतान्तरेणाकाशादिवत् । सिद्धान्ते व्यतिरेकेण घटादिवदिति भावः । २. उक्तेति सुसूक्ष्मत्वादीत्यर्थः । ३. अनङ्गस्येत्यनवयवस्येत्यर्थः । ४. स्वाङ्गेति स्वावयवेत्यर्थः । ५. पृथिवीवेति पृथिवीव यत्कारणं तत्परिपश्यन्तीत्यन्वयः । ६. अद्रेश्यं पश्यन्तीति विरोधपरिजिहीर्षया धीरतां परिष्करोति धीमन्त इति । वाक्योत्थया धिया व्याप्नुवन्तीति भावः । वृत्तिव्याप्तेरिष्टत्वाददृेश्यमिति च फलविषयत्वनिषेधादविरोध इति ।

भूतयोन्यक्षरमित्युक्तं तत्कथं भूतयोनित्वमित्युच्यते प्रसिद्धदृष्टान्तैः । यथा लोके प्रसिद्धम् । ऊर्णनाभिर्लूताकीटः किञ्चित्कारणान्तरमनपेक्ष्य स्वयमेव सृजते स्वशरीराव्यतिरिक्तानेव तन्तून्बहिः प्रसारयति पुनस्तानेव गृह्णते च गृह्णाति स्वात्मभावमेवाऽऽपादयति । यथा च पृथिव्यामोषधयो [1]व्रीह्यादिस्थावरान्ता इत्यर्थः । स्वात्माव्यतिरिक्ता एव प्रभवन्ति । यथा च सतो विद्यमानाज्जीवतः पुरुषात्केशलोमानि केशाश्च लोमानि च सम्भवन्ति विलक्षणानि । यथैते दृष्टान्तास्तथा विलक्षणं सलक्षणं च निमित्तान्तरानपेक्षाद्यथोक्तलक्षणादक्षरात्सम्भवति समुत्पद्यत इह [2]संसारमण्डले विश्वं समस्तं [3]जगत् । अनेकदृष्टान्तोपादानं तु सुखार्थप्रबोधनार्थम् ।।७।।

यद्ब्रह्मण उत्पद्यमानं विश्वं तदनेन क्रमेणोत्पद्यते न युगपद्बदरमुष्टिप्रक्षेपवदिति

ब्रह्म न कारणं सहायशून्यत्वात्[4]कुलालमात्रवदित्यस्यानैकान्तिकत्वमुक्तमूर्णनाभिदृष्टान्तेन । ब्रह्म जगतो नोपादानं तदभिन्नत्वात्[5]स्वरूपस्येवेत्यनुमानान्तरस्यानैकान्तिकत्वमाह—यथा च पृथिव्यामिति । जगन्न ब्रह्मोपादानं तद्विलक्षणत्वात् । यद्यद्विलक्षणं तत्तदुपादानकं न भवति । यथा घटो न तन्तूपादानक इति । अस्य व्यभिचारार्थमाह—यथा च सत इति । [6]एकस्मिन्नपि दृष्टान्ते सर्वानुमानानामनैकान्तिकत्वं योजयितुं शक्यमिति शङ्कमानं प्रत्याह—अनेकदृष्टान्तेति ।।७।।

गया है। व्यय तीन प्रकार से लोक में देखे गये हैं। अङ्ग के ह्रास से, कोष के ह्रास से और गुण के ह्रास से शरीर सावयव है। इसलिए अङ्ग के ह्रास से शरीर का ह्रास हो सकता है। किन्तु अक्षर ब्रह्म निरवयव है, उसके अङ्ग नहीं हैं। अतः अङ्गों के नाश से उसका नाश नहीं हो सकता। कोष आदि वैभव सम्पन्न राजा का कोष के नाश से नाश होना कहा गया है। आत्मा निर्विशेष है। इसलिए राजा की भाँति कोष के नाश से उसका नाश नहीं हो सकता। वैसे ही सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम प्रपञ्चका कारण अक्षर ब्रह्म है। इस प्रकार सभी भूतों की योनि और सभी के आत्मस्वरूप अक्षर ब्रह्म को सभी ओर से विवेकी, बुद्धिमान् धीर पुरुष देखते हैं। ऐसा अक्षर ब्रह्म परा विद्या से जाना जाता है। इसीलिए यह विद्या परा विद्या कही गई है। यही पूर्वोक्त वाक्य-समुदाय का तात्पर्यार्थ है ।।६।।

ब्रह्म जगत् का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि जगत्-निर्माण के लिये उसके पास साधन-सामग्री नहीं है। मृत्तिका-चक्रादि साधन-सामग्री के अभाव में केवल कुम्भकार घटादि का कर्ता नहीं देखा गया है। ऐसे ब्रह्मकारण वाद का खण्डन कुछ अनुमानों से पूर्वपक्षी कर सकता था। अतः उनके अनुमानों में अनैकान्तिकत्व (व्यभिचार) दिखलाने के लिए श्रुति आगे का मन्त्र कही रही है।

सम्पूर्ण भूतों का कारण अक्षर ब्रह्म है ऐसा कहा गया है। उसमें जगत्कारणता किस प्रकार की है? क्या उपादान-कारणता है, या निमित्त कारणता है अथवा उभय कारणता है? ऐसी आकांक्षा होने पर प्रसिद्ध दृष्टान्तों के द्वारा अभिन्न-निमित्तोपादान-कारणत्व यानी दोनों प्रकार की कारणता ऊर्णनाभि आदि दृष्टान्तों द्वारा श्रुति बतला रही है। जैसे लोक में प्रसिद्ध है कि मकड़ी अपने से भिन्न किसी कारण की अपेक्षा न कर स्वयं ही अपने शरीर से अभिन्न जाले को बाहर फैला देती है और पुनः उन्हीं

१. अजहल्लक्षणया व्याचष्टे व्रीह्यादिस्थावरान्ता इति। उद्भिज्जत्वं लक्ष्यतावच्छेदकमिति भावः। स्थावरा हि वनस्पतयः। ओषधयः फलपाकान्ता इति भेदः। २. संसारमण्डले ब्रह्माण्डगोलके। ३. जगत्-देवादिरूपमित्यर्थः। ४. कुलालमात्रेति दण्डादिसाधनान्तरव्यावर्तको मात्रशब्दः। ५. स्वरूपस्येति ब्रह्मण इत्यर्थः। ६. एकस्मिन्नपि तथात्व दृष्टान्तद्वयस्य वैयर्थ्यमिति भावः।

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥८॥

[(पुत्र की उत्पत्ति की इच्छा वाले पिता के समान ज्ञान रूप) तप द्वारा वह अक्षर ब्रह्म कुछ स्थूल भाव को प्राप्त हो जाता है। तत्पश्चात् उसी ब्रह्म से (सभी प्राणियों के लिये साधारण कारण रूप अव्याकृत) अन्न उत्पन्न होता है। फिर अन्न से हिरण्यगर्भ रूप प्राण, सङ्कल्पादि चतुष्टय व्यापार रूप मन, मन से भूतपञ्चक, उससे भूरादि लोक, उनमें मनुष्यादि के अनुरूप कर्म और कर्म से अमृत नामक कर्मजन्य फल उत्पन्न होता है ॥८॥]

क्रमनियमविवक्षार्थोऽयं मन्त्र आरभ्यते। तपसा ज्ञानेनो[1]त्पत्तिविधिज्ञतया भूतयोन्यक्षरं ब्रह्म चीयत उपचीयत उत्पिपादयिषदिदं जगद[2]ङ्कुरमिव बीजमुच्छूनतां गच्छति [3]पुत्रमिव पिता हर्षेण। एवं सर्वज्ञतया [4]सृष्टिस्थितिसंहारशक्तिविज्ञानवत्तयोपचितात्ततो ब्रह्मणोऽन्नमद्यते भुज्यत इत्यन्नमव्याकृतं साधारणं संसारिणां व्याचिकीर्षितावस्थारूपेणाभिजायत उत्पद्यते। ततश्चाव्याकृताद्व्याचिकीर्षितावस्थावतोऽन्नात्प्राणो हिरण्यगर्भो

ईश्वरत्वोपाधिभूतं मायातत्त्वं महाभूतादिरूपेण सर्वजीवैरुपलभ्यत इति सर्वसाधारण्येऽपि कथं जायतेऽनादिसिद्धत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—व्याचिकीर्षितेति। [5]**कर्मापूर्वसमवायिभूत सूक्ष्ममव्याकृतमिति केचित्। तन्न, तस्य प्रतिजीवं भिन्नत्वादीश्वरत्वोपाधित्वासम्भवात्। [6]सामान्यरूपेण सम्भवेऽपि पृथिव्यादिसामान्यानां बहुत्वात्। प्रकृतावेकत्वश्रुतिव्याकोपापाताज्[7]जाड्यमहामायारूपेणैव सम्भवेऽपि**

जलों को समेट लेती है। अर्थात् अपने से अभिन्न बना डालती है। जाले की उत्पत्ति और संहार में किसी दूसरे की सहायता मकड़ी नहीं लेती है। वैसे ही सम्पूर्ण संसार की सृष्टि और संहार करने में वह अक्षर-ब्रह्म किसी की सहायता नहीं लेता। और जिस प्रकार पृथ्वी में धान्यादि स्थावर पर्यन्त सभी ओषधियाँ पृथिवी से अभिन्न रूप में ही उत्पन्न होती हैं, यानी वे सभी पार्थिव हैं। इसी प्रकार जीवित पुरुष से चेतन पुरुष की अपेक्षा विलक्षण जड़, केश और लोम उत्पन्न होते हैं, ऐसे ही किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा के बिना ही पूर्वोक्त लक्षणवाले अक्षर ब्रह्म से इस संसार में सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है। जैसे कारण के समान और असमान लक्षणवाले जाले औषधि एवं केश-लोम मकड़ी पृथिवी तथा जीवित पुरुष से उत्पन्न होते हैं। ठीक वैसे ही मायाविशिष्टचेतन ब्रह्म से संपूर्ण विश्व उत्पन्न होता है। पूर्वपक्षी के ब्रह्म कारणवाद के विरोध में कहे गये सभी अनुमानों का खण्डन इसी एक दृष्टान्त से भी हो सकता था। फिरभी अनेक दृष्टान्त सरलता से बोध कराने के लिए श्रुति में ग्रहण किये गये हैं। ॥७॥

ब्रह्म से जो विश्व उत्पन्न होता है, वह आगे बतलाये जाने वाले क्रम से उत्पन्न होता है। बेर

---

१. ज्ञानेनेत्येतत्स्पष्टयति उत्पत्तिविधिज्ञतयेति उत्पत्तिप्रकारविषयेण मायापरिणाम विशेषेणेत्यर्थः। २. ब्रह्मण उपादाननिमित्तोभयात्मकत्वाद्दृष्टान्तद्वयम्-अङ्कुरमिवेति। ३. पुत्रमिवेति। कार्यानुकूलो भाविनी क्षोभविशेष एवोच्छूनता। ४. सृष्ट्याद्यनुकूलशक्तिमत्तया तद्विज्ञानवतया चेत्यर्थः। ५. कर्मेत्यादि कर्मजन्यादृष्टसम्बन्धं सूक्ष्मावस्थापन्नं पञ्चीकृतभूतपञ्चकमित्यर्थः। ६. सामान्यरूपेणेति-एकैकभूतसमष्टिरूपेणेत्यभिप्रायः। तथा चैकैकभूतसमष्टेरुपाधित्वे उपाधिपञ्चत्वादीश्वरपञ्चत्वमापद्येत। प्रकृतावजामेकामित्यादिनैकत्वश्रुतिश्च विरुध्येतेत्यर्थः। ७. सर्वजडानुगतिमनुसृत्याह-जाड्येति। जडत्वस्य मायाऽव्यतिरेकाच्च।

¹ब्रह्मणो ज्ञानक्रियाशक्त्यधिष्ठितजगत्साधारणोऽविद्याकामकर्मभूतसमुदायबीजाङ्कुरो जगदात्माऽभिजायत इत्यनुषङ्गः । तस्माच्च ²प्राणान्मनो मनआख्यं सङ्कल्पविकल्पसंशयनिर्णयाद्यात्मकमभिजायते । ततोऽपि सङ्कल्पाद्यात्मकान्मनसः सत्यं सत्याख्यम³काशादिभूतपञ्चकम⁴भिजायते । तस्मात्सत्याख्यादभूतपञ्चकादण्डक्रमेण सप्त लोका भूरादयः । तेषु मनुष्यादिप्राणिवर्णाश्रमक्रमेण कर्माणि । कर्मसु च निमित्तभूतेष्वमृतं कर्मजं फलम् । यावत्कर्माणि कल्पकोटिशतैरपि न विनश्यन्ति ⁵तावत्फलं न विनश्यतीत्यमृतम् ॥८॥

न कर्मापूर्वसमवायित्वम् । तस्याकारकत्वाद्बुद्ध्यादीनामेव कारकत्वा⁶भिधानात् । कारकावयवेष्वेव क्रियासमवायाभ्युपगमात् । किञ्च न कार्यस्य स्वकारणप्रकृतित्वं दृष्टमिति भूतसूक्ष्मस्यापञ्चीकृतभूतप्रकृतित्वं न स्यात् । तस्मान्महाभूतसर्गादिसंस्कारास्पदं गुणत्रयसाम्यं मायातत्त्वमव्याकृतादिशब्दवाच्यमिहाभ्युपगन्तव्यम् । पूर्वस्मिन्कल्पे हिरण्यगर्भप्राप्तिनिमित्तं प्रकृष्टं ज्ञानं कर्म च येनानुष्ठितं तदनुग्रहाय मायोपाधिकं ब्रह्म हिरण्यगर्भावस्थाकारेण विवर्तते । स च जीवस्तदवस्थाभिमानी हिरण्यगर्भ उच्यत इत्यभिप्रेत्याऽऽह—ब्रह्मण इति । ज्ञानशक्तिभिः क्रियाशक्तिभिश्चाधिष्ठितं विशिष्टं जगद्व्यष्टिरूपं तस्य साधारणः समष्टिरूपः सूत्रसंज्ञक इत्यर्थः । मनआख्यमिति । ⁷समष्टिरूपं विवक्षितम् । व्यष्टिरूपस्य लोकसृष्ट्युत्तरकालत्वात् ॥ ८ ॥

से भरी मुष्टि प्रक्षेप के समान एक साथ उत्पन्न नहीं होता । अतः क्रम नियम बतलाने के अभिप्राय से यह मन्त्र प्रारम्भ किया जाता है । विश्व-उत्पत्ति-विधि के ज्ञान को इस मन्त्र में तप कहा गया है । ऐसे ज्ञान रूप तप से सम्पूर्ण भूतों की योनि अक्षर ब्रह्म वैसे ही कुछ स्थूलता को प्राप्त हो जाता है जैसे अंकुर फूटने से पहले पृथ्वी में डाला हुआ बीज हो जाता है । एवं जिस प्रकार पुत्र-उत्पत्ति की सम्भावना से पिता प्रसन्नता के कारण फूल उठता है, ऐसे ही जगत् उत्पादन की इच्छावाला जगत्-योनि अक्षर-ब्रह्म स्थूल भाव को प्राप्त हो जाता है । ऐसे सृष्टि, स्थिति और संहार शक्ति के विज्ञान रूप सर्वज्ञता के कारण स्थूल भाव को प्राप्त हुए अक्षर ब्रह्म से अन्न उत्पन्न होता है । जो सभी संसारियों के लिये साधारण भोग्यरूप है । ऐसे अव्याकृत मायातत्त्व को अन्न शब्द से कहा गया है । वह ईश्वर की उपाधि है और वही सहाभूतादि रूप से उत्पन्न होता देखा जाता है । यद्यपि वह माया अनादि है तथापि नाम-रूप व्याकरण की इच्छावाली अवस्था को इस मन्त्र में अन्न पद से कहा गया है । ऐसी अवस्था में उस ईश्वर की उपाधि मायातत्व का अभिव्यक्त होना ही इस मन्त्र में उत्पन्न होना कहा गया है । इस व्याकृत-अवस्था प्राप्त होने की इच्छावाली अवस्थारूप अव्याकृतात्मक अन्न से हिरण्यगर्भ-रूप प्राण उत्पन्न होता है । ब्रह्म के ज्ञान और क्रिया शक्ति से बिशिष्ट जगत् जो व्यष्टि रूप है उसका समष्टि-रूप हिरण्यगर्भ या सूत्र नाम से कहा गया है । जो सभी जोवों के लिए साधारण है । वह अविद्या काम-कर्म के समुदाय बीजाङ्कुर के समान है और वह विश्व का सूक्ष्म स्वरूप है । इसी को प्राण शब्द से कहा गया है । वह हिरण्यगर्भ-रूप प्राण पूर्वोक्त रीति से अन्नभाव को प्राप्त हुए ब्रह्म से उत्पन्न होता है । ऐसी योजना कर लेनी चाहिये । उस हिरण्यगर्भावस्था को प्राप्त हुए प्राणात्मक ब्रह्म से संकल्प-

१. ब्रह्मण इति सम्बन्धषष्ठ्याः पूर्वेण हिरण्यगर्भेणान्वयष्टीकानुरोधादवगम्यते । २. प्राणवृत्त्यनन्तरं मनोवृत्तेराह प्राणात्मन इति । ३. सच्च त्यच्च सत्यमिति श्रौतव्युत्पत्त्याऽऽह- आकाशादिभूतपञ्चकमिति । ४. अभिजायत इति पञ्चीकृतात्मनेति भावः । ५. फलं न विनश्यतीति फलत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावो न भवतीति यावत् । ६. अभिधानादिति विज्ञानं यज्ञं तनुत इत्यादाविति शेषः । ७. समष्टिरूपमिति समष्टिमनसो हिरण्यगर्भोपाधित्वेऽपि तदवस्थायामेव तदभिव्यक्तिमाश्रित्याभिजायत इत्युक्तमिति ध्येयम् ।

य: सर्वज्ञ: सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तप: ।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥९॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषदि प्रथममुण्डके प्रथम: खण्ड: ॥१॥

[सबको सामान्य रूप से जो जानता है, इसलिये सर्वज्ञ और विशेष रूप से जानने के कारण सर्ववित् कहा जाता है और जिसका ज्ञानमय तप है, उस अक्षर ब्रह्म से ही हिरण्यगर्भ रूप देवदत्तादि नाम शुक्लादि रूप और व्रीहि यवादि अन्न उत्पन्न होता है ॥९॥]

॥ इति प्रथममुण्डके प्रथम खण्ड: ॥

उक्तमेवार्थमुपसञ्जिहीर्षुर्मन्त्रो वक्ष्यमाणार्थमाह—य उक्तलक्षणोऽक्षराख्य: सर्वज्ञ: सामान्येन सर्वं जानातीति सर्वज्ञ:। विशेषेण सर्वं वेत्तीति सर्ववित्। यस्य ज्ञानमयं ज्ञानविकारमेव सार्वज्ञ्यलक्षणं तपो नाऽऽयासलक्षणं तस्माद्यथोक्तात्सर्वज्ञादेतदुक्तं कार्यलक्षणं ब्रह्म हिरण्यगर्भाख्यं जायते। किञ्च नामासौ देवदत्तो यज्ञदत्त इत्यादिलक्षणम्। रूपमिदं शुक्लं नीलमित्यादि। अन्नं च व्रीहियवादिलक्षणं जायते। पूर्वमन्त्रोक्तक्रमेणेत्यविरोधो द्रष्टव्य: ॥९॥

इति मुण्डकोपनिषद्भाष्ये प्रथममुण्डके प्रथम: खण्ड: ॥१॥

वक्ष्यमाणार्थमिति। वक्ष्यमाणस्य[1]विद्याविवरणप्रकरणस्याऽऽरम्भार्थमुक्तपरविद्यासूत्रार्थोपसंहार इत्यर्थ:। सामान्येनेति। समष्टिरूपेण मायाख्येनोपाधिनेत्यर्थ:। विशेषेणेति। व्यष्टिरूपेणाविद्याख्येनोपाधिनाऽनन्तजीभावमापन्न: स एव सर्वं स्वोपाधितत्संसृष्टं च वेत्तीत्यधिदैवमध्यात्मं च तत्त्वाभेद: [2]सूत्रित:। स्रष्टृत्वं प्रजापतीनां [3]तपसा [4]प्रसिद्धम्, तद्वद्ब्रह्मणोऽपि स्रष्टृत्वे तपोनुष्ठानं वक्तव्यम्। तत: संसारित्वं प्रसज्येतेत्याशङ्क्याऽऽह—यस्य ज्ञानमयमिति। सत्त्वप्रधानमायाया ज्ञानाख्यो विकारस्तदुपाधिकं ज्ञानविकारं सृज्यमानसर्वपदार्थाभिज्ञत्वलक्षणं तपो न तु क्लेशरूपं प्रजापतीनामिवेत्यर्थ: ॥ ९ ॥

इति मुण्डकोपनिषद्भाष्यटीकायां प्रथममुण्डके प्रथम: खण्ड: ॥ १ ॥

विकल्प, संशय और निर्णय आदि नाम वाला मन नामक अन्त:करण उत्पन्न होता है। एवं सङ्कल्प-विकल्पात्मक उस मन से लोक दृष्टि से सत् कहे जाने वाले आकाश आदि पाँच भूत उत्पन्न होते हैं। पुन: सत्य नामक भूतपञ्चक से ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है। जिस ब्रह्माण्ड में क्रमश: भू:, भुव:, स्व:, मह:, जन:, तप:, सत्यम्—ऐसे सात लोक उत्पन्न होते हैं और उन लोकों में मनुष्यादि प्राणी उत्पन्न होते हैं। और उन प्राणियों के लिए वर्ण एवं आश्रम क्रम से विहित कर्म उत्पन्न होते हैं। एवं निमित्त कारण रूप कर्म में फिर अमृत अर्थात् कर्म जन्य-फल उत्पन्न होता है। सौ कल्प बीत जाने पर भी जब तक कर्म नष्ट नहीं होता, यानी उन कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। इसीलिए कर्मजन्य फल को इस मन्त्र में अमृत कहा गया है, नकि त्रिकालाबाधित ब्रह्म को अमृत शब्द से कहा गया है। आपेक्षिक अमृत ही अमृत शब्द का अर्थ है न कि निरपेक्ष मोक्ष रूप अमृतत्व ॥८॥

---

१. अविद्याविवरणेति अपरविद्याविवरणेत्यर्थ:। परविद्याविवरणं तु द्वितीयमुण्डके तदेतत्सत्यमित्यादिना करिष्यत इति भाव:। २. द्वितीयमुण्डकादौ विचरिष्यमाणत्वादाह-सूत्रित इति। ३. तपसा - क्लेशात्मकेनेत्यर्थ:। ४. प्रसिद्धं पुराणादिष्वित्यर्थ:।

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि। तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥१॥

[मेधावी (वशिष्ठादि) ऋषियों ने जिन अग्निहोत्रादि कर्मों को ऋग्वेदादि मन्त्रो में देखा था, वही वह सत्य है। उन्हीं कर्मों का हौत्र, आध्वर्यव और औद्गात्ररूप त्रेता में अनेक प्रकार से विस्तार हुआ। यथार्थ फल की कामना से युक्त होकर उनका आचरण करो। लोक में तुम्हारे लिये बिहीत अग्निहोत्रादि कर्मों के फल की प्राप्ति का यही मार्ग है ॥१॥]

साङ्गा वेदा अपरा विद्योक्ता—ऋग्वेदो यजुर्वेद इत्यादिना। यत्तदद्रेश्यमित्यादिना नामरूपमन्नं च जायत इत्यन्तेन ग्रन्थेनोक्तलक्षणमक्षरं यया विद्ययाऽधिगम्यत इति परा विद्या [1]सविशेषणोक्ता। अतः परमनयोर्विद्ययोर्विषयौ विवेक्तव्यौ संसारमोक्षावित्युत्तरो

अनादिरुपादानरूपेणानन्तो ब्रह्मज्ञानात्प्रागन्तासम्भवात्प्रत्येकं शरीरिभिर्हातव्यो दुःखरूपत्वादित्यनेन यदाहुरेकजीववादिन एकं चैतन्यमेकयैवाविद्यया बद्धं संसरति। तदेव [2]कदाचिन्मुच्यते नास्मदादीनां बन्धमोक्षौ स्त इति तदपास्तं भवति। [3]श्रुतिबहिष्कृतत्वात्। सुषुप्तेऽपि क्रियाकारकफलभेदस्य प्रहाणं भवति। बुद्धिपूर्वकप्रहाणस्य ततो विशेषमाह—सामस्त्येनेति। [4]स्वोपाध्यविद्याकार्य-

---

पूर्वोक्त मन्त्र के अर्थ का उपसंहार करनेवाला मन्त्र आगे कहे जाने वाले अर्थ को बतला रहा है। जो उक्त लक्षणवाला अक्षर नामक परमात्मा है, वह सामान्य रूप से (माया नामक समष्टि उपाधि द्वारा) सबको जानता है। अतः सर्वज्ञ है। एवं विशेष रूप से अविद्या नामक व्यष्टि उपाधि के कारण अनन्त जीवभाव को प्राप्त हुआ वही परमात्मा है और वह विशेष रूप से सबको जानने के कारण सर्वबित् कहा गया है।

जिसका ज्ञान विकार रूप सर्वज्ञ लक्षण तप है, शरीर का आभास रूप तप नहीं है, ऐसे पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त सर्वज्ञ ब्रह्म से जिस कार्यात्मक हिरण्यगर्भ को पूर्व मन्त्र में कहा गया, वह ब्रह्मा उत्पन्न होता है। एवं देवदत्त, यज्ञदत्त इत्यादि नाम उत्पन्न होते हैं। और यह शुक्ल रूप है, यह नील रूप है—इत्यादि रूप तथा धान्य जब आदि अन्न उत्पन्न होते हैं। इस मन्त्र में बतलाये गये पदार्थों की उत्पत्ति भी पूर्वोक्त मन्त्र में कहे गये क्रमसे ही होती है। अतः दोनों में विरोध नहीं समझना चाहिए ॥९॥

❀ प्रथम मुण्डक द्वितीय खंड ❀

"ऋग्वेदो यजुर्वेदः" इत्यादि मन्त्र द्वारा अङ्गों के सहित चारों वेदों को अपरा विद्या नाम से कहा है। और 'यत्तदद्रेश्यम्' से लेकर 'नामरूपमन्नं च जायते' इस मन्त्र पर्यन्त ग्रन्थ द्वारा उक्त लक्षण से लक्षित अक्षर ब्रह्म जिस विद्या से जाना जाता है, उस परा विद्या को विशेषण के सहित बतला दिया अब इसके बाद इन दोनों विद्याओं के विषय जो संसार और मोक्ष हैं। उन्हें बतलाने के लिए आगे का ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है। उनमें अपरा विद्या का विषय कर्ता आदि साधन, क्रिया और फल रूप भेदवाला संसार, अनादि, अनन्त है। अतः सभी शरीरधारियों को दुखः रूप होने से वह संसार सर्वथा त्यागने योग्य है। नदी प्रवाह के समान निरन्तर अविच्छिन्न रूप से चलने वाला यह संसार बंधन है और उसका उपशम हो जाना ही मोक्ष है। जो परा विद्या का विषय है। यह मोक्ष वस्तुतः अनादि, अनन्त,

---

१. सविशेषणेति अदृश्यत्वादिविशेषणकाक्षरविशेषणेत्यर्थः। २. कदाचिदिति तस्यैव यदा ज्ञानं तदेत्यर्थः।
३. श्रुतीति जीवन्मुक्तिप्रतिपादकेत्यादिः। ४. स्वोपाधीति स्वमधिकारिचैतन्यम्।

ग्रन्थ आरभ्यते । तत्रापरविद्याविषयः कर्त्रादिसाधनक्रियाफल[1]भेदरूपः संसारोऽनादिरनन्तो दुःखस्वरूपत्वाद्धातव्यः प्रत्येकं शरीरिभिः सामस्त्येन नदीस्रोतोवदव्यवच्छेदरूपसंबन्धस्तदुपशमलक्षणो मोक्षः परविद्याविषयोऽनाद्यनन्तोऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयः [2]शुद्धः [3]प्रसन्नः स्वात्मप्रतिष्ठालक्षणः परमानन्दोऽद्वय इति । पूर्वं तावदपरविद्याया विषयप्रदर्शनार्थमारम्भः । तद्दर्शने हि तन्निर्वेदोपपत्तेः । तथाच वक्ष्यति—"[4]परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्" इत्यादिना । न ह्यप्रदर्शिते परीक्षोपपद्यत इति तत्प्रदर्शयन्नाह तदेतत्सत्यमवितथम् । किं तन्मन्त्रेष्वृग्वेदाद्याख्येषु कर्माण्यग्निहोत्रादीनि मन्त्रैरेव प्रकाशितानि कवयो मेधाविनो वसिष्ठादयो यान्यपश्यन्दृष्टवन्तः । यत्तदेतत्सत्यमेकान्तपुरुषार्थसाधनत्वात्तानि च वेदविहितान्यृषिदृष्टानि कर्माणि त्रेतायां त्रयी[5]संयोगलक्षणायां हौत्राध्वर्यवौद्गात्रप्रकारायामधिकरणभूतायां बहुधा बहुप्रकारं सन्ततानि प्रवृत्तानि कर्मिभिः क्रियमाणानि त्रेतायां वा युगे प्रायशः प्रवृत्तान्यतो यूयं तान्याचरथ निर्वर्तयथ नियतं नित्यं सत्यकामा यथाभूतकर्मफलकामाः सन्तः । एष वो युष्माकं पन्था मार्गः सुकृतस्य स्वयं निर्वर्तितस्य कर्मणो लोके फलनिमित्तं लोक्यते दृश्यते भुज्यत इति कर्मफलं लोक उच्यते । तदर्थं तत्प्राप्तय एष मार्ग इत्यर्थः । यान्येतान्यग्निहोत्रादीनि त्रय्यां विहितानि कर्माणि तान्येष पन्था अवश्यफलप्राप्तिसाधनमित्यर्थः ॥१॥

स्याविद्याप्रहाणेनाऽऽत्यन्तिकप्रहाणं विद्याफलमित्यर्थः । अमरोऽपक्षयरहितः । अमृतो नाशरहित इत्यर्थः । अपरविद्यायाः परविद्यायाश्च विषयौ प्रदर्श्य पूर्वमपरविद्याया विषयप्रदर्शने श्रुतेरभिप्रायमाह—पूर्वं तावदिति । यदिष्टसाधनतयाऽनिष्टसाधनतया वा वेदेन बोध्यते कर्म तस्यासति प्रतिबन्धे तत्साधनत्वाव्यभिचारः सत्यत्वं न स्वरूपाबाध्यत्वं 'प्लवा ह्येते' इत्यादिना निन्दितत्वात्स्वरूपबाध्यत्वेऽपि चार्थक्रियासामर्थ्यं स्वप्नकामिन्यामिव घटत इत्यभिप्रेत्याऽऽह—तदेतत्सत्यमिति । ऋग्वेदविहितः पदार्थो हौत्रम् । यजुर्वेदविहित आध्वर्यवम् । सामवेदविहित औद्गात्रम् । [6]तद्रूपायां त्रेतायामित्यर्थः । सत्यकामा मोक्षकामा इति समुच्चयाभिप्रायेण व्याख्यानमयुक्तम् । 'एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके' इति स्वर्गफलसाधनत्वविषयवाक्यशेषविरोधादिति ॥१॥

जन्म-मरण से रहित, मृत्यु और भय से शून्य, शुद्ध, प्रसन्न, स्वात्म-प्रतिष्ठा-स्वरूप, परमानन्द, अद्वयरूप है। जो क्षय से रहित हो, उसे अमर कहते हैं और नाश से रहित हो, उसे अमृत कहते हैं। इस प्रकार अमर और अमृत शब्द में किञ्चित् भेद माना गया है। अपरा विद्या और परा विद्या के विषय संक्षेप में बतला देने पर पहले अपरा विद्या का विषय बतलाने के लिये श्रुति प्रारम्भ करती है। क्योंकि अपरा विद्या के विषय बन्धन रूप संसार को जान लेने पर वैराग्य हो जायेगा, वैसे ही 'कर्म से सञ्चित इस लोक और स्वर्ग आदि की परीक्षा कर ब्रह्मजिज्ञासु संसार से विरक्त हो जाता है" इत्यादि वाक्य द्वारा आगे श्रुति भी कहेगी। अतः संसार का स्वरूप दिखलाये बिना उसकी परीक्षा नहीं हो सकती है।

---

१. भेदः—विशेष इत्यर्थः । २. शुद्धः स्वभावतो मायामलरहितः । ३. प्रसन्नश्चागन्तुकधर्माधर्मादिकालुष्यविरहीत्यर्थः । ४. मुण्डकः १ । २ । १२ । ५. संयोगः समूहः इत्यर्थः । ६. मु० उ० १ । २ । ७ । ७. तद्रूपायां त्रेतायामिति । एवं त्रेधाविभक्तानि कर्माणि बहुधाप्रवृत्तानीति यावद् ।

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने ।
तदाऽऽज्यभागावन्तरेणाऽऽहुतीः प्रतिपादयेत् ॥२॥

[(जिस समय ईन्धन द्वारा सम्यक् प्रकार से) अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर उसकी ज्वाला उठने लगे, उस समय (अग्नेय स्वाहा तथा सोमाय स्वाहा, इन मन्त्रों से) दिये गये आज्य भागों के मध्य में आहुतियाँ डाले ॥२॥]

तत्राग्निहोत्रमेव तावत्प्रथमं प्रदर्शनार्थमुच्यते सर्वकर्मणां प्राथम्यात् । तत्कथम् । यदैवेन्धनैरभ्याहितैः सम्यगिद्धे समिद्धे हव्यवाहने लेलायते चलत्यर्चिस्तदा तस्मिन्काले लेलायमाने चलत्यर्चिष्याज्यभागावाज्यभागयोरन्तरेण मध्ये आवापस्थाने आहुतीः प्रतिपादयेत्प्रक्षिपेद्देवतामुद्दिश्य । अनेकाहप्रयोगापेक्षयाऽऽहुतीरिति बहुवचनम् । एष सम्यगाहुतिप्रक्षेपादिलक्षणः कर्ममार्गो लोकप्राप्तये पन्थास्तस्य च सम्यक्करणं दुष्करम्। विपत्तयस्त्वनेका भवन्ति ॥२॥

आहवनीयस्य दक्षिणोत्तरपार्श्वयोराज्यभागाविज्येते अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहेति दर्शपूर्णमासे । तयोर्मध्येऽन्ये यागा अनुष्ठीयन्ते । तन्मध्यमावापस्थानमुच्यते । अग्निहोत्राहुत्योर्द्वित्वं प्रसिद्धम् । सूर्याय स्वाहा प्रजापतये स्वाहेति प्रातः । अग्नये स्वाहा प्रजापतये स्वाहेति सायम् । तत्कथमग्निहोत्रं प्रक्रम्याऽऽहुतीरिति बहुवचनं तत्राऽऽह—अनेकाहेति । अनेकेष्वहःसु प्रयोगानुष्ठानानि तदपेक्षयेत्यर्थः ॥२॥

इसीलिये संसार का स्वरूप का प्रदर्शन करते हुए श्रुति कहती है । 'तदेतत् सत्यम्' इत्यादि इष्ट साधन और अनिष्ट साधत के रूप में वेद जिस कर्म को बतलाता है, वह असति प्रतिबन्ध के अवश्यमेव फल देता है । इसलिये उसे सत्य कहते हैं । संसार के स्वरूप के तत्त्वज्ञान द्वारा बाधित हो जाने पर भी स्वप्न की कामिनी के समान अर्थ क्रिया में सामर्थ्य देखा गया है । इसीलिये भी संसार एवं कर्म को सत्य (अवितथ) कहा गया है । वह क्या है ? तो ऋग्वेदादि नामक मन्त्रों में कहे गये अग्निहोत्रादि कर्म ही हैं । क्योंकि ऋग् आदि मन्त्रों से ही इनके स्वरूप जाने जाते हैं । ऐसे कर्मों एवं उन कर्मों में फल साधनता को, स्पष्ट रूप से मेधावी वशिष्ठ आदि विद्वानों ने देखा है । इस प्रकार अवश्यमेव पुरुषार्थ-साधन होने से वे कर्म सत्य हैं, वेद विहित हैं और वशिष्ठ आदि ऋषियों से फल के सहित देखे गये हैं । उन कर्मों के अनेक प्रकार से कर्मनिष्ठ सद्पुरुषों द्वारा अनुष्ठान किये गये हैं । इसीलिये त्रेता में उनका विस्तार होना कहा गया है । ऋग्वेद-विहित पदार्थ को हौत्र कहते हैं । यजुर्वेद-विहित-पदार्थ को आध्वर्यव एवं सामवेद-विहित-पदार्थ को औद्गात्र कहते हैं ।

इन तीनों को मिलाकर ही त्रेता पद से कहा गया है । क्योंकि त्रिवेद से ये प्रकाशित हैं और अधिकरण रूप भी हैं । ऐसे त्रेता में पूर्वोक्त कर्म का विस्तार देखा गया है । अथवा त्रेता शब्द का अर्थ त्रेता युग भी होता है । उस त्रेता युग में प्रायशः कर्म-परायण पुरुषों के द्वारा अग्निहोत्रादि कर्म का अनुष्ठान हुआ करता था । अतः ऐसे त्रेता अनेक प्रकार से प्रवृत्त कर्मों का अनुष्ठान तुम भी नित्य सत्यकाम हुए अर्थात् जिस कर्म का जो फल है, वैसे ही फल की कामना करते हुए अच्छी प्रकार से

१-२. आज्यभागौ-अग्नीषोमौ देवौ—वचनविपरिणामेन व्याचष्टे—आज्यभागयोरिति । आज्यभागयजनाधिकरणदेशयोराहवनीयदक्षिणोत्तरपार्श्वयोरित्यर्थः । ३. आवापस्थाने-हविः प्रक्षेपाधारे आहवनीये अग्नावित्यर्थः ।

**यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्र-
यणमतिथिवर्जितं च । अहुतमवैश्वदेवमवि-
धिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान्हिनस्ति ॥३॥**

[जिस अग्निहोतृ का अग्निहोत्र दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य और (शरदादि ऋतुओं में नवीन अन्न से किये जाने वाले) आग्रयण, इन कर्मों से रहित नित्य अतिथि पूजन से वर्जित, यथासमय किये जाने वाले अग्निहोत्रादि और बलिवैश्वदेव से रहित अथवा अविधिपूर्वक हवन किया जाता है, वह कर्म (केवल परिश्रममात्र फलवाला होने के कारण) उस कर्ता की सात पीढ़ियों या सात लोकों का नाश कर देता है । ॥३॥]

कथं यस्याग्निहोत्रिणोऽग्निहोत्रमदर्शं दर्शाख्येन कर्मणा वर्जितम् । अग्निहोत्रिणोऽवश्य-कर्तव्यत्वाद्दर्शस्य । [1]अग्निहोत्रसम्बन्ध्यग्निहोत्रविशेषणमिव भवति तदक्रियमाणमित्येतत् । तथाऽपौर्णमासमित्यादिष्वप्यग्निहोत्रविशेषणत्वं द्रष्टव्यम् । [2]अग्निहोत्राङ्गत्वस्याविशिष्ट-त्वादपौर्णमासं पौर्णमासकर्मवर्जितम् । अचातुर्मास्यं चातुर्मास्यकर्मवर्जितम् । अनाग्रय-णमाग्रयणं शरदादिकर्तव्यं तच्च न क्रियते [3]यस्य । तथाऽतिथिवर्जितं चातिथिपूजनं चाहन्यहन्यक्रियमाणं यस्य स्वयं सम्यगग्निहोत्रकालेऽहुतम् । अदर्शादिवदवैश्वदेवं वैश्वदेव-

---

दर्शस्याग्निहोत्राङ्गत्वे प्रमाणाभावात्कथं तदकरणमग्निहोत्रस्य विपत्तिरित्याशङ्क्य याव-ज्जीवचोदनावशादग्निहोत्रिणोऽवश्यकर्तव्यत्वात्तदकरणं भवेद्विपत्तिरित्यभिप्रेत्य [4]'विशेषणम् । शरदादिषु

आचरण करो । तुम से सम्पादित पुण्य-कर्म का फल प्राप्त करने के लिये यही राजमार्ग है। इस मन्त्र में लोक शब्द का अर्थ फल है और उसमें सप्तमी विभक्ति का अर्थ है निमित्त। जो देखा जाय, अनुभव किया जाय यानी भोगा जाय, ऐसे कर्मफल को लोक कहा गया है। उसकी प्राप्ति के लिये यही मार्ग है। जोकि यह त्रय वेद में अग्निहोत्रादि कर्म विहित है, ये फल प्राप्ति के लिये राजमार्ग हैं। अर्थात् फल प्राप्ति के निश्चित साधन हैं। यह इसका तात्पर्यार्थ है ॥१॥

पूर्वोक्त मन्त्र में बतलाये गये कर्मों में से सर्व प्रथम अग्निहोत्र को ही इस मन्त्र से बतलाते हैं। क्योंकि सभी कर्मों में इसे प्रथम माना गया है। वह किस प्रकार ? जिस समय डाले गये इन्धनों के द्वारा अच्छी प्रकार से हव्यवाहन अग्नि प्रदीप्त हो जाती है और उसमें ज्वाला फूट उठती है, उस समय परिस्फुटित ज्वाला में आहवनीय अग्नि के दक्षिण और उत्तर भाग में घृत की आहुति डाले और उपादानों के बीच आवाप-स्थान में देवता के उद्देश्य से प्रातःकाल 'सूर्याय स्वाहा' 'प्रजापतये स्वाहा' ऐसी दो आहुतियाँ डालें। वैसे ही 'अग्नये स्वाहा' 'प्रजापतये स्वाहा' ऐसी दो आहुतियाँ सायंकाल भी आवाप स्थान में डालें। सायं-प्रातः पूर्वोक्त रीति से दो-दो आहुतियाँ डालने का नियम है. फिर भी श्रुति में बहुवचन का प्रयोग अनेक दिनों में किये गये अनुष्ठान की अपेक्षा से किया गया है। सम्यक्

---

१. अग्निहोत्रसम्बन्ध्यग्निहोत्रविशेषणमिवेति दर्शाख्यं कर्म समानकर्तृकत्वेनाग्निहोत्रसम्बन्धिभवत्यतो विशेषणं तस्य परम्परासम्बन्धेनैवसम्बन्धित्वादिवकार इति भावः । वृद्धास्तु अग्निहोत्रिसम्बन्ध्यपीति पाठमकल्पयन् ।
२. अग्निहोत्राङ्गत्वस्येत्यङ्गत्वोक्तिरग्निहोत्रिणोऽवश्येकर्तव्यत्वाभिप्रायेति टीकानुसाराद्‌वगम्यते । ३. यस्येति-अग्निहोत्रस्य सम्बन्धीत्यर्थः । ४. विशेषणमित्यस्थानन्तरम् - इति प्रश्नपूर्वकमाह कथमितीतिशेषः ।

कर्मवर्जितं हूयमानमप्यविधिना हुतं न यथाहुतमित्येतत् । एवं दुःसम्पादितमसम्पादितमग्निहोत्राद्युपलक्षितं कर्म किं करोतीत्युच्यते आसप्तमान्सप्तमसहितांस्तस्य कर्तुर्लोकान्हिनस्ति हिनस्तीवाऽऽयासमात्रफलत्वात् । सम्यक्क्रियमाणेषु हि कर्मसु कर्मपरिणामानुरूपेण भूरादयः सत्यान्ताः सप्त लोकाः फलं प्राप्यन्ते । ते लोका एवंभूतेनाग्निहोत्रादिकर्मणा त्वप्राप्यत्वाद्धिंस्यन्त इवाऽऽयासमात्रं त्वव्यभिचारीत्यतो हिनस्तीत्युच्यते । पिण्डदानाद्यनुग्रहेण वा सम्बध्यमानाः पितृपितामहप्रपितामहाः पुत्रपौत्रप्रपौत्राः [1]स्वात्मोपकाराः सप्त लोका उक्तप्रकारेणाग्निहोत्रादिना न भवन्तीति हिंस्यन्त इत्युच्यते ।।३।।

नूतनान्नेन कर्तव्यमाग्रयणं कर्म । अदर्शादिवदवैश्वदेवमिति विशेषणम् । वैश्वदेवस्याग्निहोत्रानङ्गत्वेऽप्यावश्यकत्वादित्यर्थः । पिण्डोदकदानेन पित्रादीनां त्रयाणामुपकरोति यजमानः पुत्रादीनां च त्रयाणां श्राद्धादिदानेन । ततो मध्यवर्तिना यजमानेन सम्बध्यमानाः पूर्वे त्रय उत्तरे च त्रयो गृह्यन्त इत्याह—पिण्डदानादीति ।।३।।

प्रकार से आहुति - प्रक्षेप आदि रूप यह कर्म लोक प्राप्ति के लिए राजमार्ग हैं। किन्तु उसका सम्यक् अनुष्ठान अत्यन्त कठिन हैं, क्योंकि इनमें अनेकों विपत्तियाँ हैं ।।२।।

पूर्वोक्त कर्मानुष्ठान दुष्कर कैसे हैं ? इसे अग्रिम मन्त्र से बतलाते हैं। जिस अग्निहोत्री का दैनिक अग्निहोत्र कर्म [अमावस्या के दिन अनुष्ठान किये जाने वाले] दर्शनामक कर्म से रहित है, वह अग्निहोत्र उसका इष्ट साधन न होकर अनिष्ट का साधन हो जाता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि दर्शयाग नित्याग्निहोत्र करने वाले को अवश्य करना चाहिए। अग्निहोत्र सम्बन्धी होने के कारण दर्शयाग अग्निहोत्र का विशेषण जैसा प्रतीत होता है। इसलिए केवल अग्निहोत्र करने पर यानी दर्शयाग न करने पर प्रत्यवाय सुना गया है। वैसे ही पौर्णमास रहित अग्निहोत्र भी अनिष्ट-कारक होता है। तथा अन्य चातुर्मास आदि को भी अग्निहोत्र का विशेषण समझना चाहिये। क्योंकि वे सब भी अग्निहोत्र के अंग दर्श-पूर्णमास के समान ही हैं। अतः अग्निहोत्री को उनका अनुष्ठान भी अवश्य करना चाहिये।

वैसे ही चातुर्मास में अनुष्ठान किये जाने वाले कर्म को चातुर्मास्य कर्म कहते हैं। शरदादि ऋतुओं में नूतन अन्न से आग्रयण कर्म किया जाता है। प्रतिदिन अग्निहोत्री को अतिथि पूजन भी करना चाहिये और समय पर अग्निहोत्र उसे करना चाहिये। यदि पूर्वोक्त अग्निहोत्र-कर्म चातुर्मास्य से रहित, आग्रयण कर्म से रहित और अतिथि पूजन से रहित है; तो वह यजमान का अनिष्ट - कारक है। वैसे बलिवैश्वदेवकर्म का अभाव भी अनिष्ट-कारक होता है। इस प्रकार अत्यन्त कठिनाई से सम्पादन किया गया या सर्वथा असम्पादित अग्निहोत्रादि उपलक्षित अंग क्या अनिष्ट करता है? ऐसी शङ्का होने पर कहते हैं, कि उस कर्ता के सात लोकों को यह फल शून्य बना देता है। इसलिये उसे सात लोकों का हिंसक कहा गया है। सम्यक् प्रकार से कर्म करने पर ही जो कर्म के परिणाम रूप भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम् - सात लोक रूप फल प्राप्त होते हैं। वे भूः आदि लोक पूर्वोक्त रीति से दर्श आदि शून्य अग्निहोत्रके अनुष्ठान करने पर प्राप्त नहीं होते। यही मानो उनकी हिंसा है क्योंकि फल तो मिलता नहीं, पर परिश्रम अवश्यमेव होता ही है। अतः यजमान को फल न प्राप्त होना और आयास मात्र होना इसी को हिंसा कहा गया है। पितृ-पितामह तथा प्रपितामह के निमित्त यथा समय पिण्डदानादि कर्म करने आवश्यक हैं। अतः पिण्डदानादि

१. स्वात्मेत्यादि स्वात्मनोपकारो येषामिति विग्रहः ।

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या
च सुधूम्रवर्णा। स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च
देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥४॥

[काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी और विश्वरुचिदेवी,, ये उस अग्नि की (आहुतियों के ग्रसने के लिए) लपलपाती हुई सात जिह्वाएँ हैं ॥४॥]

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा। स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः। काल्याद्या विश्वरुच्यन्ता लेलायमाना अग्नेर्हविराहुतिग्रसनार्था एताःसप्त जिह्वाः ॥४॥

के कारण ये यजमान से सम्बद्ध हैं और पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र ये तीन अनुग्रह के द्वारा यजमान से सम्बद्ध माने गये हैं। ये दोनों ही यजमान की आत्मा के उपकारक हैं। इसलिये यजमान के सहित इन्हें सप्तलोक कहा गया है। इन सातों लोकों को पूर्वोक्त प्रकार से दर्शआदि-शून्य केवल अग्निहोत्र हिंसित कर डालता है। यह भी इस मन्त्र का अभिप्राय हो सकता है। इस प्रकार यह निश्चित हो गया कि नित्य अग्निहोत्र करनेवाले अग्निहोत्री को उसके अंग रूप से दर्श-पूर्णमास, चातुर्मास आग्रयण और अतिथि पूजन आदि अवश्य करना चाहिये ॥३॥

काली , कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिगिनि एवं विश्वरुचि नामकी दिव्य लपलपाती हुई ज्वालायें हैं, ये अग्नि की सात जिह्वयें हैं। काली से लेकर विश्वरुचि पर्यन्त लपलपाती हुई अग्नि की ये सात जिह्वायें यजमान द्वारा दी गई आहुतियों के भक्षण के लिए मानी गई हैं।

वेद में और विशेषरूप से इस उपनिषद् में सात संख्या की आवृत्ति अनेक बार की गई है। 'सप्त-प्राणाः प्रभवन्ति' इत्यादि मन्त्र में सात संख्या की बहुधा आवृत्ति देखी गई है। भूः आदि सात लोक, क्षार आदि सात समुद्र, अतलादि सात नीचे के लोक जम्बुद्वीप आदि सात द्वीप, शुभेच्छा आदि सात ज्ञान की भूमिकायें, अज्ञान आदि सात चिदाभास की अवस्थायें, तथा वशिष्ठ आदि सप्तऋषि भी हैं। सूर्य रथ में सात घोड़े और पृथ्वी के शुक्ल आदि सात रूप होते हैं। इस प्रकार सात-सात की आवृत्ति बहुधा देखी जाती है। तन्त्र शास्त्र में शक्ति के सात भेद बतलाये गये हैं। वहाँ पर इस मन्त्र का उदाहरण देकर तान्त्रिक अपने सिद्धान्तानुसार भी इस वेद का अर्थ करते हैं। जैसा भी हो, यजमान द्वारा शास्त्र बिधि के अनुसार डाली गई आहुति का भक्षण इन्हीं काली आदिसप्त जिह्वाओं से अग्निकरती है। कार्य जगत् में ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त सभी प्राणियों की जीवन आहुति को काल भगवान् सात दिनों में ग्रास लेता है। ऐसे अनेक कारणों को लेकर अग्निकी सात जिह्वायें इस मन्त्र में बतलायी गयीं ॥४॥

**एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाऽऽहु-
तयो ह्याददायन् । तं नयन्त्येताः सूर्यस्य
रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥५॥**

[जो अग्निहोत्री पुरुष इन दीप्तिमान् अग्नि शिखाओं में यथासमय अहुतियाँ डालता हुआ अग्नि होत्रादि कर्म का आचरण करता है उस यजमान को ये (इसकी दी हुई आहुतियाँ) सूर्य की किरणों में होकर वहाँ ले जाती हैं, जहाँ देवताओं का एकमात्र स्वामी इन्द्र रहता है ॥५॥

एतेष्वग्निजिह्वाभेदेषु योऽग्निहोत्री चरते कर्माऽऽचरत्यग्निहोत्रादि भ्राजमानेषु दीप्यमानेषु यथाकालं च यस्य कर्मणो यः कालस्तत्कालं यथाकालं यजमानमाददायन्नाददाना आहुतयो यजमानेन निर्वर्तितास्तं नयन्ति प्रापयन्त्येता आहुतयो या इमा अनेन निर्वर्तिताः सूर्यस्य [1]रश्मयो भूत्वा रश्मिद्वारैरित्यर्थः । यत्र यस्मिन्स्वर्गे देवानां पतिरिन्द्र एकः [2]सर्वानुपर्यधिवसतीत्य[3]धिवासः ॥५॥

॥४॥ ॥५॥

देदीप्यमान् अग्नि की इन सात जिह्वाओं में जो अग्निहोत्री अग्निहोत्र आदि कर्म का यथासमय शास्त्र विधि से—अनुष्ठान करता है, उसी यजमान को उसके द्वारा डाली गई आहुतियाँ सूर्य की रश्मिरूप होकर उस लोक में पहुँचा देती हैं, जिस स्वर्ग लोक में देवताओं का अधिपति अनुपम इन्द्रदेव सबसे ऊपर निवास करता है। अग्निहोत्र आदि में काल और विधि का अतिक्रमण नहीं होना चाहिये। इसीलिये 'यथाकालम्' शब्द श्रुति में कहा गया है। अपने द्वारा अनुष्ठित अग्निहोत्रादि कर्म का फल उसी यजमान को मिलता है। स्मार्त कर्म के सदृश श्रौत कर्म का नियम नहीं है। यथा वापी, कूप, तालाब आदि निर्माण कराने का संकल्प किया, उन्हें पूर्ण न कर सके और उसी यजमान के सकल्पित कर्म को उसके पुत्रादि पूर्ण कर देते हों तो उसका फल उस संकल्प कर्ता यजमान को मिल जाता है। किन्तु श्रौत कर्म में ऐसी बात नहीं है कि अग्निहोत्रादि का संकल्प कर अपूर्ण स्थिति में छोड़ दिया या वह यजमान मर गया, तो उसे उसका पुत्र पूर्ण करदे और अग्निहोत्रादि—कर्म का फल संकल्पकर्ता यजमान को प्राप्त हो जावे, ऐसा नियम नहीं है। इस बात को बतलाने के लिये इस मन्त्र में' यश्चरते तं नयन्ति' ये शब्द दिये गये हैं। वे शास्त्रविधि से समय पर डाली हुई आहुतियाँ एक ओर सूर्य की रश्मि बन जाती हैं, दूसरी ओर यजमान के अन्तःकरणमें अदृष्ट बन कर रहती हैं। इन दोनों का सम्बन्ध उस कर्म की फल प्राप्ति कराने के लिये परमेश्वर करता है ॥५॥

---

१. रश्मयो भूत्वेति रश्मितादात्म्यापन्नाः सत्य इति भावः । २. सर्वानुपर्यधिवसतीति सर्वानधिवसतीत्यन्वयः "उपान्वध्याङ्वस" इति द्वितीया । अर्थमाह—उपरीति । सर्वेषामुपरि वसतीत्यर्थः । ३. सर्वाधिष्ठातेत्यर्थः सर्वेश्वर इति यावत् ।

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मि-
भिर्यजमानं वहन्ति । प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽ-
र्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥६॥

[वे दीप्तमती आहुतियाँ 'आओ-आओ, यह तुम्हारे सुकृत से प्राप्त हुआ पवित्र ब्रह्म लोक है।' इस प्रकार प्रिय वाणी से उसकी स्तुति करते हुए यजमान का अर्चन करती हुईं उसे सूर्य की रश्मियों द्वारा स्वर्ग ले जाती हैं ॥६॥]

कथं सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्तीत्युच्यत एह्येहीत्याह्वयन्त्यः । सुवर्चसो दीप्तिमत्यः । किञ्च प्रियामिष्टां वाचं स्तुत्यादिलक्षणामभिवदन्त्य उच्चारयन्त्योऽर्चयन्त्यः पूजयन्त्यश्चैष वो युष्माकं पुण्यः सुकृतो यथा ब्रह्मलोकः फलरूपः । एवं प्रियां वाचमभिवदन्त्यो वहन्तीत्यर्थः । ब्रह्मलोकः स्वर्गः 'प्रकरणात् ॥६॥

आहुतयो यजमानं वहन्तीति सम्बन्धः ॥६॥

सूर्य की रश्मियों के द्वारा वे आहुतियाँ यजमान को किस प्रकार स्वर्ग ले जाती हैं, ऐसी आकांक्षा होने पर प्रकाश का वर्णन श्रुति करती है कि अत्यन्त दीप्तमती वे आहुतियाँ यजमान को 'आइये-आइये' इस प्रकार आह्वान करती है। और स्तुति आदि रूप प्रियबाणी का उच्चारण करती हैं। साथ ही अर्चना भी करती हैं। वे यजमान को सम्बोधित करते हुए कहती हैं कि यह आपका अत्यन्त पवित्र ब्रह्मलोक है। यहाँ पर प्रकरणवश ब्रह्मलोक का अर्थ स्वर्ग करना चाहिये। इस तरह प्रियवाणी द्वारा अभिवादन करते हुये सूर्य की रश्मियों के माध्यम से वे आहुतियाँ अग्निहोत्रादि कर्म करने वाले यजमान को स्वर्ग ले जाती हैं ॥६॥

ज्ञान रहित यह कर्म है और अविद्या, काम एवं कर्म का कार्यफल असार तथा दुःख मूल है। इसलिये आगे के मन्त्र से इसकी निन्दा की जाती है। क्योंकि यज्ञ के सम्पादक सोलह ऋत्विज्, यजमान और यजमानी से अठारह संख्या वाले दुर्बल नौका नाशवान् है। इन्हीं के आश्रित पूर्वोक्त कर्म को शास्त्र ने कहा है। अतः उक्त अठारह अदृढ़ नाशवान् आश्रय से सम्पन्न होने वाला कर्म उपासना रहित होने के कारण अवर है [निम्न कोटि का है]। अतः अवर कर्म का आश्रय उक्त अठारह साधन दुर्बल होने से फल के सहित कर्म नाशवान् है। जैसे कुण्डे में दूध या दही रक्खे हों, तो कुण्डे के नाश हो जाने पर दुग्धादि का भी नाश हो जाता है। ऐसे ही नश्वर साधनों से होने वाला वह कर्म भी फल

---

१. प्रकरणादिति—केवलकर्मप्रकरणादित्यर्थः । केवलेन च कर्मणा सत्यलोकस्याप्राप्यत्वात् 'कर्मणा पितृलोक' इति श्रुतेरिति भावः ।

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥७॥

[ज्ञान रहित होने के कारण जिनमें निकृष्ट कर्म माना गया, वे (सोलह ऋत्विक् तथा यजमान और यजमानी ऐसे) अठारह यज्ञ के साधन, अस्थिर एवं नश्वर बतलाये हैं। जो मूढ़ यही मोक्ष का साधन है ऐसा समझकर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं, वे पुनः-पुनः जरा-मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं ॥७॥]

एतच्च [1]ज्ञानरहितं कर्मैतावत्फलमविद्याकामकार्यमतोऽसारं दुःखमूलमिति निन्द्यते। प्लवा विनाशिन इत्यर्थः। हि यस्मादेतेऽदृढा अस्थिरा यज्ञरूपा यज्ञस्य रूपाणि यज्ञरूपा यज्ञनिर्वर्तका अष्टादशाष्टादशसंख्याकाः षोडशर्त्विजः पत्नी यजमानश्चेत्यष्टादश। एतदाश्रयं कर्मोक्तं कथितं शास्त्रेण। येष्वष्टादशस्ववरं केवलं ज्ञानवर्जितं कर्म। अतस्तेषामवरकर्माश्रयाणामष्टादशानामदृढतया प्लवत्वात्प्लवते सह फलेन तत्साध्यं कर्म। कुण्डविनाशादिव क्षीरदध्यादीनां तत्स्थानां नाशः। यत एवमेतत्कर्म श्रेयः श्रेयः-करणमिति येऽभिनन्दन्त्यभिहृष्यन्त्यविवेकिनो मूढा अतस्ते जरां च मृत्युं च जरामृत्युं किञ्चित्कालं स्वर्गे स्थित्वा पुनरेवापि यन्ति भूयोऽपि गच्छन्ति ॥७॥

रूप्यते निरूप्यते यदाश्रयतया यज्ञस्ते यज्ञरूपाः ॥७॥

के सहित काल पाकर नष्ट हो जाता है। फिर भी इस कर्म को मोक्ष का साधन मानकर विवेकहीन मूढ़ पुरुष प्रसन्न होते हैं और इसका अभिनन्दन करते हैं। इसलिये वे कुछ काल स्वर्ग में हो कर पुनः-पुनः बुढ़ापा और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। अतः कर्म मोक्ष का साधन नहीं हो सकता क्योंकि कर्म के सम्पादक साधन, कर्म का स्वरूप एवं फल सभी नश्वर हैं। ऐसे कर्म से नित्य मोक्ष प्राप्त कभी हो नहीं सकता ॥७॥

अविद्या के मध्य में वर्तमान जीव प्रायशः हैं तो अविवेकी, किन्तु वे अपने आप को ही बुद्धिमान् सम्पूर्ण वेदितव्य वस्तु को जाननेवाला मानते हैं। वे किसी तत्त्वदर्शी के उपदेश की अपेक्षा भी नहीं रखते। ऐसे स्वयं पंडितम्मानी अविवेकी बुढ़ापा-रोग आदि अनेक अनर्थ समुदाय से बार-बार पीड़ित होते हुए स्वर्ग-नरक आदि उच्चावच्च-भाव को प्राप्त होते रहते हैं। उनकी दशा वैसे ही होती है, जैसे नेत्रहीन अन्धे से दिखलाये गये मार्ग पर चलने वाले नेत्र रहित अन्धे संसार में गड्ढे कण्टक आदि में पड़ते हैं। कर्म अचेतन जड़ होने से दर्शन रहित है। उससे प्रेरित पुरुष कभी भी परमार्थ प्राप्त नहीं कर सकता। बल्कि परमार्थ-ज्ञान-शुन्य होने से उसे बार-बार अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेना पड़ता है। और अच्छे बुरे लोक में भी जाना पड़ता है। दृष्टान्त में चलने वाले और चलानेवाले दोनों को अन्धा कहा गया है। वैसे ही दृष्टान्त में भी कर्म एवं अविवेकी को तत्त्वज्ञान से शून्य होने के कारण अन्धा कहा

---

१. ज्ञानेति उपासनेत्यर्थः।

[१]अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः ।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥८॥
अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनाऽऽतुराः क्षीणालोकाश्च्यवन्ते ॥९॥

[अविद्या के मध्य में रहने वाले (बहुधा अविवेकी) अपने आप को सम्मानित और पण्डित मानने वाले वे मूढ पुरुष अन्धे से ले जाए गये अन्धे के समान (जरा रोगादि अनेक अनर्थ जाल से) पीड़ित होते और भटकते रहते हैं ॥८॥ अनेक प्रकार से अविद्या में ही रहने वाले वे अज्ञानी पुरुष 'हम सब कृतकृत्य हो चुके हैं' इस प्रकार अभिमान किया करते हैं क्योंकि कर्मी लोग कर्मफल सम्बन्धी राग से बुद्धि के प्रतिहत हो जाने के कारण तत्त्व को नहीं जान पाते हैं। इसीलिये वे दुःखार्त होकर कर्मफल के नष्ट हो जाने पर स्वर्ग से गिर जाते हैं ॥९॥]

किञ्चाविद्यायामन्तरे मध्ये वर्तमाना अविवेकप्रायाः स्वयं वयमेव धीरा [२]धीमन्तः [३]पण्डिता विदितवेदितव्याश्चेति मन्यमाना आत्मानं सम्भावयन्तस्ते च जङ्घन्यमाना जरारोगाद्यनेकानर्थव्रातैर्हन्यमाना भृशं पीड्यमानाः परियन्ति विभ्रमन्ति मूढाः । दर्शन-वर्जितत्वादन्धेनैवाचक्षुष्केणैव नीयमानाः प्रदर्श्यमानमार्गा यथा लोकेऽन्धा अक्षिरहिता गर्तकण्टकादौ पतन्ति तद्वत् ॥८॥

किञ्चाविद्यायां बहुधा बहुप्रकारं वर्तमाना वयमेव कृतार्थाः कृतप्रयोजना इत्ये-

---

स्वयमेवेति तत्त्वदर्श्युपदेशानपेक्षतया स्वमनोरथेनैवेत्यर्थः ॥८॥ ॥९॥

जाता है ॥८॥

जो अविद्या में अनेक प्रकार से रह रहे हैं किन्तु वे अज्ञानी 'हम कृतकृत्य हो गये'—ऐसा मिथ्याभिमान करते हैं; वे विवेक शून्य केवल कर्मासक्त अज्ञानी उस परमात्मतत्त्व को कर्म एवं उसके फल में राग के कारण नहीं जान पाते। इसीलिये वे सदा आध्यात्मिकादि त्रिविध ताप से सन्तप्त होते रहते हैं और पुण्यकर्म के फल क्षीण हो जाने पर स्वर्ग से गिर जाते हैं।

कर्म और फल में राग होने के कारण उस परमात्मतत्त्व को अज्ञानी कर्मी नहीं जान पाते हैं। उल्टे त्रिविध ताप से सदा सन्तप्त होते रहते हैं। और किसी पुण्यकर्म के फल स्वरूप स्वर्ग लोक को प्राप्त भी करलें, तो भी पुण्य क्षीण होते ही उन्हें जन्ममरणादि रूप गर्त में गिरना ही पड़ता है ॥९॥

---

१. अविद्यायामिति—अविद्याशब्दोऽत्र तत्कार्यपरः । तथा च अविद्यायामित्यस्याविद्याकार्ये संघात इत्यर्थः । तदन्तरे तन्मध्यवर्त्यन्तःकरणे वर्तमानास्ततादात्म्यापन्ना इत्यर्थः । आत्मानात्मविवेकविकला इति यावत् ।
२. धीमन्तो लौकिकधीशालिनः । ३. पण्डिताः शास्त्रीयधीशालिनः ।

इष्टापूर्तं मान्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥१०॥

[इष्ट (यागादि श्रौत कर्म) और पूर्त (वापी, कूप, तडागादि स्मार्त कर्म) को ही पुरुषार्थ के सर्वोत्तम साधन माननेवाले वे (पुत्र, पौत्रादि में मोहित हुए) महामूढ़ पुरुष किसी अन्य वस्तु को श्रेय का साधन नहीं समझते हैं । अतः वे स्वर्ग के उच्चतम स्थान में अपने कर्म फलों का अनुभव कर (अवशिष्ट कर्मानुसार) इस मनुष्य लोक या इससे निकृष्ट (तिर्यगादि) लोक से प्रवेश करते हैं ॥१०॥]

वमभिमन्यन्त्यभिमानं कुर्वन्ति बाला अज्ञानिनः यद्यस्मादेवं कर्मिणो न प्रवेदयन्ति तत्त्वं न जानन्ति रागात्कर्मफलरागा[१]भिभवनिमित्तं तेन कारणेनाऽऽतुरा दुःखार्ताः सन्तः क्षीणलोकाः क्षीणकर्मफलाः स्वर्गलोकाच्च्यवन्ते ॥९॥

इष्टापूर्तम् । इष्टं यागादि श्रौतं कर्म । पूर्तं वापीकूपतडागादि स्मार्तं मन्यमाना

कं सुखं न भवतीत्यकं दुःखं तत्र विद्यते यस्मिन्नसौ नाकः ॥१०॥

श्रुति विहित यागादि श्रौत कर्म को इष्ट कहते हैं और स्मृति विहित वापी, कूप, तड़ागादि कर्म को पूर्त कहते हैं । ऐसे इष्ट और पूर्त कर्म को ही पुरुषार्थ का सर्वश्रेष्ठ साधन मानने वाले एवं इनसे भिन्न आत्मज्ञान को मोक्ष के साधन न मानने वाले पुत्र, पशु, बन्धु-बान्धवादि में अत्यन्तासक्त प्रमूढ़ कहे गये हैं। जो भोग का सर्वोच्च स्थान स्वर्ग है—वहाँ जाकर वे प्रमूढ़पुरुष अपने पुण्य फल कर्म का उपभोग कर शेष कर्म के फल स्वरूप इस मनुष्य लोक में आते हैं या इससे हीनतर पशु-पक्षी आदि योनियों में जाते हैं ।

इष्टापूर्त को मोक्ष का साधन मानना और इससे भिन्न तत्त्वज्ञान को मोक्ष का साधन न मानना इससे महान् मूर्खता है । ऐसे लोग चाहे पुण्य कर्म के फल भोग के लिये स्वर्ग भी जावें, फिर भी पुण्य क्षीण होते ही पुनः मृत्युलोक में मनुष्य शरीर या पशु-पक्षी आदि योनियों में उन्हें प्रवेश करना ही पड़ता है। क्योंकि तत्त्वज्ञान के बिना सम्पूर्ण धर्माधर्म का नाश हो नहीं सकता । अतः शेष कर्म के फलस्वरूप पुनः-पुनः शरीर धारण करना पड़ता है। "कम्" का अर्थ सुख होता है। और उससे भिन्न "अकम्" को दुःख कहते हैं । वह जहाँ पर न हो, वैसे लोक को नाक कहते हैं । दुःख का अत्यन्ताभाव मोक्ष काल में ही हो सकता है, किसी लोक विशेष में नहीं । अतः सुख बाहुल्य के कारण स्वर्ग को नाक कहा गया है, न कि आत्यन्तिक सुख और दुःख के अत्यन्ताभाव के कारण । अतएव स्वर्ग भी विवेकियों के लिये हेय है । यही इसका अभिप्राय है ॥१०॥

केवल कर्म करने वालों का फल बतलाकर सगुण ब्रह्म की उपासना सहित आश्रम कर्म करनेवालों का फल भी संसार विषयक ही होता है । इसे इस मन्त्र से बतलाते हैं कि जो केवल कर्म करनेवालों से विपरीत है, यानी उपासना-सहित आश्रम-कर्म करनेवाले हैं । ऐसे वानप्रस्थ और संन्यासी स्वाश्रम विहित कर्मरूप तप एवं हिरण्यगर्भ आदि की उपासनारूप श्रद्धा का सेवन करते हुए स्त्रीजनों से असंकीर्ण अरण्य में वास करते हैं, और जो सद्गृहस्थ विषयों से इन्द्रियों को उपरत किये हुये उपासना प्रधान जीवन बिताते हैं, वे सभी पुण्य-पाप के

---

१. अभिभवे.तं-तत्त्वज्ञानयोग्यताऽभावापादनेत्यर्थः ।

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥११॥

[(किन्तु इसके विपरीत) जो शान्त और सम्पन्न वानप्रस्थ तथा संन्यासी लोग वन में रहकर भिक्षावृत्ति का आचरण करते हुए स्वधर्माचरणरूप तप और श्रद्धा का सेवन करते हैं, वे पुण्य पाप से विमुक्त होकर उत्तरायण मार्ग से वहाँ जाते हैं। जिस सत्य लोकादि में वह अमृत और अव्यय स्वरूप हिरण्यगर्भादि पुरुष रहता है ॥११॥]

एतदेवातिशयेन पुरुषार्थसाधनं वरिष्ठं प्रधानमिति चिन्तयन्तोऽन्यदात्मज्ञानाख्यं श्रेयःसाधनं न वेदयन्ते न जानन्ति प्रमूढाः पुत्रपशुबन्धवादिषु प्रमत्ततया मूढास्ते च नाकस्य स्वर्गस्य पृष्ठ [1]उपरिस्थाने सुकृते भोगायतनेऽनुभूत्वाऽनुभूय कर्मफलं पुनरिमं लोकं मानुषमस्माद्धीनतरं वा तिर्यङ्नरकादिलक्षणं यथाकर्मशेषं विशन्ति ॥१०॥

ये पुनस्तद्विपरीता ज्ञानयुक्ता वानप्रस्थाः संन्यासिनश्च तपःश्रद्धे हि तपः स्वाश्रमविहितं कर्म। श्रद्धा हिरण्यगर्भादिविषया विद्या ते तपःश्रद्धे उपवसन्ति सेवन्तेऽरण्ये वर्तमानाः सन्तः। शान्ता उपरतकरणग्रामाः। [2]विद्वांसो गृहस्थाश्च ज्ञानप्रधाना इत्यर्थः। [3]भैक्ष्यचर्यां चरन्तः परिग्रहाभावादुपवसन्त्यरण्य इति सम्बन्धः। सूर्यद्वारेण सूर्योपलक्षितेनो-

---

केवलकर्मिणां फलमुक्त्वा सगुणब्रह्मज्ञानसहिताश्रमकर्मिणां फलं संसारगोचरमेव दर्शयति—ये पुनस्तद्विपरीता ज्ञानयुक्ता इत्यादिना। अरण्ये [4]स्त्रीजनासंकीर्णे देशे। मुक्तानामिहैव सर्वकाम-

---

क्षीण हो जाने पर सूर्य से उपलक्षित उत्तरायण मार्ग द्वारा उस सत्यलोक आदि में अच्छी प्रकार से जाते हैं, जहाँ पर वह प्रथमज हिरण्यगर्भ अव्यय आत्मा रहता है। जब तक संसार हैं, तब तक हिरण्यगर्भ स्थायी रूप से रहता है। इसीलिये उसे अव्यय आत्मा यानी अव्यय-स्वभाव कहा गया है। कर्म और उपासना के सह-अनुष्ठान करनेवाले अरण्यवासी वानप्रस्थ एवं संन्यासी भिक्षा द्वारा शरीर निर्वाह करते हैं, क्योंकि उनके पास परिग्रह का अभाव रहता है। अतः परिग्रह अभाव के कारण ही भिक्षाटन से जीवन निर्वाह करते हुए अरण्यवास उनके लिये कहा गया है। वह विद्वान् सद्गृहस्थों के लिये नहीं है। अपराविद्या से प्राप्त होने योग्य संसार गति यहाँ तक हो है। शङ्का—कुछ लोग इसी को मोक्ष कहते हैं? समाधान—देश परिच्छिन्न होने के कारण ब्रह्मप्राप्ति को मोक्ष नहीं कह सकते क्योंकि 'मुक्त आत्माओं की सम्पूर्ण कामनायें जीते जी यहाँ पर ही विलीन हो जाती हैं,' 'वे तत्त्वज्ञानी समाहित-चित्त धीर-पुरुष सभी ओर से व्यापक-परमात्मा को प्राप्त कर उस सर्वात्मा में ही प्रवेश कर जाते हैं', ऐसी अनेक श्रुतियाँ हैं और यह यह पराविद्या का प्रकरण भी नहीं है। अपरा विद्या का प्रकरण चलते रहने पर अकस्मात् मोक्ष का प्रसङ्ग लाना ठीक नहीं। ब्रह्मलोक

---

१. उपरिस्थान इति अनेन नाकस्यानेकविभागोपेतत्वं व्यज्यते। न्याय्यं च कर्मतारतम्येन फलतारतम्यं दृष्टं चेन्द्रस्य राजत्वमितरेषां तत्प्रजात्वमिति। २. विद्या ह्यत्रोपासना तद्वन्तो विद्वांस इति शान्तविशेषणत्वे तपःश्रद्धे इत्यनेन पौनरुक्त्यं स्यादतो व्याचष्टे—विद्वांसो गृहस्था इति। ३. नैतद्गृहस्थानामित्याशयेन सम्बन्धं दर्शयति—भैक्ष्यचर्यां चरन्त इत्यादिना। ४. वनमपि हि स्त्रीजनसङ्कुलं चेन्न तपोऽनुकूलमतो व्याचष्टे—स्त्रीजनासङ्कीर्ण इति।

त्तरायणेन पथा ते विरजा विरजसः [1]क्षीणपुण्यपापकर्माणः सन्त इत्यर्थः । प्रयान्ति प्रकर्षेण यान्ति यत्र यस्मिन्सत्यलोकादावमृतः स पुरुषः प्रथमजो हिरण्यगर्भो ह्यव्ययात्माऽव्ययस्वभावो यावत्संसारस्थायी । एतदन्तास्तु [2]संसारगतयोऽपरविद्यागम्याः । ननु--एतं मोक्षमिच्छन्ति केचिन्न हैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामास्ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाऽऽविशन्तीत्यादिश्रुतिभ्योऽप्रकरणाच्च अपरविद्याप्रकरणे हि प्रवृत्ते न ह्यकस्मान्मोक्षप्रसङ्गोऽस्ति विरजस्त्वं [3]त्वापेक्षिकं [4]समस्तमपरविद्याकार्यं साध्यसाधनलक्षणं क्रियाकारकफलभेदभिन्नं द्वैतम् । एतावदेव यद्धिरण्यगर्भप्राप्त्यवसानम् । तथा च मनुनोक्तं स्थावराद्यां संसारगतिमनुक्रामता--

[5]"ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च ।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः" इति ॥११॥

प्रविलयं सर्वात्मभावं च दर्शयन्ति श्रुतयः । ब्रह्मलोकप्राप्तिस्तु देशपरिच्छिन्नं फलं ततो न मोक्ष इत्याह—इहैवेति । ब्रह्मा [6]चतुर्मुखः । विश्वसृजः प्रजापतयो मरीचिप्रभृतयः । धर्मो यमः । महान्सूत्रात्मा । अव्यक्तं त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः । सात्त्विकीं सत्त्वपरिणामज्ञानसहितकर्मफलभूतामित्यर्थः ॥११॥

जानेवालों के लिए विरजस्त्व जो कहा गया है, वह आपेक्षिक है। सम्पूर्ण अपरा विद्या का कार्य साध्य-साधनरूप क्रिया, कारक एवं फल विशेष से भिन्न वह अद्वैत है। यह हिरण्यगर्भ प्राप्ति रूप फल तो संसार दृष्टि से चरम [अन्तिम] है। ऐसे ही मनु ने कहा है—'चतुर्मुख ब्रह्मा, मरीचि आदि प्रजापति, विश्वस्रष्टा, यम रूप धर्म, सूत्रात्मा, त्रिगुणात्मिका प्रकृति सत्त्वगुण के परिणाम ज्ञान सहित कर्म फल रूप इस गति को, मनीषियों ने उत्तम कहा है' अतः ब्रह्मलोक को मोक्ष कहना ठीक नहीं है ॥११॥

साध्य-साधन रूप सम्पूर्ण इस संसार से विरक्त पुरुष का ही पराविद्या में अधिकार है। इस बात को दिखलाने के लिये अब 'परीक्ष्य लोकान्' मन्त्र कहा जाता है। जो ये ऋग्वेद आदि अपरा विद्या के विषय हैं; वे स्वाभाविक अविद्या, काम एवं कर्मरूप दोष से युक्त पुरुष द्वारा ही अनुष्ठेय हैं क्योंकि अविद्या आदि दोष युक्त पुरुष के लिये ही इनका विधान किया गया हैं, एवं उनके अनुष्ठान के फल स्वरूप लोक जो दक्षिण और उत्तर मार्ग से प्राप्त किये जाते हैं। वैसे ही वेद विहित कर्म न करने से और निषिद्ध-कर्म करने से होने वाले पाप द्वारा नरक तिर्यक् प्रेतादि योनियों की प्राप्ति होती है। इन सभी की परीक्षा प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम आदि प्रमाणों से अच्छी प्रकार करके ब्रह्मजिज्ञासु या जाति से ब्राह्मण पुरुष विरक्त हो जावे। क्योंकि संसार की गतिरूप अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त व्याकृत अथवा अव्याकृत जितने लोक हैं; ये सभी बीज-अंकुर की भाँति एक दूसरे की उत्पत्ति के कारण हैं, जन्म, जरा, व्याधि आदि अनेकों अनर्थ से व्याप्त हैं, केले के खम्भे के समान निःसार हैं।

---

१. क्षीणपुण्यपापकर्माण इति उपास्तिजन्येनाशुक्लाकृष्णाख्यधर्मेण क्षपितशुक्लकृष्णकर्माण इत्यर्थः । तथा च पातञ्जलसूत्रम्—"कर्माशुक्ला कृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषा" मिति उपासना हि योगः । २. संसारगतय इति संसारान्तर्गतानि फलानीत्यर्थः । ३. आपेक्षिकमिति शुक्लकृष्णकर्माभावापेक्षमित्यर्थः । ४. अपरविद्याप्रकरणेऽप्यलं स्वर्गोक्तिरेव हिरण्यगर्भोक्तिस्तु किमर्थेत्यत आह—समस्तमित्याह । ५. मं० १२-५० ।
६. चतुर्मुख इति विराजो रूपं सूत्रात्मनो महदर्थत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् ।

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥१२॥

[कर्म से प्राप्त हुए सम्पूर्ण लोकों को विवेक द्वारा परीक्षा कर मोक्षाभिलाषी ब्राह्मण वैराग्य को प्राप्त करे, क्योंकि संसार में अनित्य साधन कर्मोपासना से नित्य पदार्थ मोक्ष नहीं मिल सकता है। अतः उस नित्य वस्तु ब्रह्म का साक्षात् ज्ञान प्राप्ति के लिये हाथ में समिधाओं का भार लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के ही पास जावे ॥१२॥]

अथेदानीमस्मात्साध्यसाधनरूपात्सर्वस्मात्संसाराद्विरक्तस्य परस्यां विद्यायामधिकार-प्रदर्शनार्थमिदमुच्यते—परीक्ष्य यदेतदृग्वेदाद्यपरविद्याविषयं [1]स्वाभाविक्यविद्याकामकर्म-दोषवत्पुरुषानुष्ठेयमविद्यादिदो[2]षवन्तमेव पुरुषं प्रति विहितत्वात्तदनुष्ठानकार्यभूताश्च

ऐहिककर्मफलस्य पुत्रादेर्नाशविषयं प्रत्यक्षं विमतमनित्यं कृतकत्वाद्घटवदित्यनुमानमामुष्मिकनाशविषयम् । तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत इत्याद्यागमस्तैरनित्यत्वेन सर्वात्मनाऽवधार्येत्यर्थः ।

माया मरीचिका तथा गन्धर्व नगर के आकार वाले हैं । स्वप्न और जल के बुल-बुले और फेन के समान हैं । प्रतिक्षण नष्ट होने वाले हैं । अविद्या-काम और दोष से प्रयुक्त कर्म द्वारा इन लोकों को प्राप्त किया जाता है। पुण्य-पाप से इनका निष्पादन होता है। ऐसा समझकर ब्राह्मण उन्हें पीठ पीछे करके नित्य सत्य तत्व का अन्वेषण करने के लिये चल पड़ता है । सर्वस्य त्याग-पूर्वक ब्रह्मविद्या में विशेष रूप से ब्राह्मण का ही अधिकार है, इसीलिये इस मन्त्र में 'ब्राह्मण' शब्द कहा गया है। वह आचार्य शंकर के विचारानुसार जाति ब्राह्मण और सुरेश्वराचार्य के विचारानुसार ब्रह्मजिज्ञासु द्विजमात्र भी हो सकता है। ऐसा ब्राह्मण—पूर्वोक्त विशेषण-विशिष्ट लोकों की परीक्षा करके क्या करे ? इस पर कहते हैं कि वह वैराग्य को प्राप्त हो जावे यानी विरक्त हो जाय, एषणात्रय का परित्याग कर देवे। निःपूर्वक 'विद्' धातु का प्रयोग इसी वैराग्य अर्थ में होता है। उस वैराग्य का प्रकार बतलाते हैं कि इस संसार में नित्य पदार्थ कुछ भी नहीं हैं क्योंकि ये सभी लोक कर्म से उपार्जित हैं। अतएव अनित्य हैं। अतः नित्य कुछ भी नहीं। बाह्याभ्यन्तर सभी प्रकार के कर्म अनित्य फल के साधन हैं क्योंकि कर्म से प्राप्त होनेवाले कार्य उत्पाद्य, विकार्य, संस्कार्य और आप्य, ऐसे चार प्रकार के ही होते हैं; इससे भिन्न कर्म का कोई विशिष्ट फल नहीं होता है। इसके विपरीत नित्य, अमर, अभय, निर्विकार, अचल एवं स्थिर वस्तु को मैं चाहता हूँ; अनित्य वस्तु को नहीं चाहता । अतः जिसमें परिश्रम भी बहुत है और जो अनर्थ का साधन है; ऐसे कर्म से हमें क्या लेना हैं ? ऐसा समझकर संसार से उपरत एवं दुःखी हुआ वह साधक ब्राह्मण भय शून्य, कल्याण स्वरूप और नित्य जो पद है—उसे विशेषरूप से जानने के लिये शम-दमादि साधन सम्पन्न आचार्य के पास ही जावे । शास्त्र-पण्डित होकर भी स्वतंत्र रूप से ब्रह्मज्ञान का अन्वेषण न करे इसी अभिप्राय से 'गुरुदेव' इस पद में अवधारणार्थक 'एव' पद दिया गया है। गुरु उपसत्ति का प्रकार यह है कि वह समित्पाणि अर्थात् सूखी लकड़ी का बोझ हाथ में लिया हुआ हो। जो सूचित कर रहा है कि मैं संसार से शुष्क काष्ठ के समान नीरस

---

१. स्वाभाविक्यविद्येति—अत्र स्वाभाविकाविद्येति युक्तः पाठः । पुंवद्भावविषयत्वात् । स्वाभाविक्याऽविद्ययेति वा पाठः कल्पनीयः । २. दोषवन्तमिति—'स्वर्गकामो यजेते' त्यादिना कामवन्तमेवोद्दिश्य विहितत्वादित्यर्थः ।

लोका ये दक्षिणोत्तरमार्गलक्षणाः फलभूता ये च विहिताकरण[1]प्रतिषेधातिक्रमदोषसाध्या नरकतिर्यक्प्रेतलक्षणास्तानेतान्परीक्ष्य प्रत्यक्षानुमानागमैः सर्वतो याथात्म्येनावधार्य लोकान्संसारगतिभूतानव्यक्तादिस्थावरान्तान्व्याकृताव्याकृतलक्षणान्बीजाङ्कुरवदितरेतरोत्पत्तिनिमित्ताननेकानर्थशतसहस्रसंकुलान्कदलीगर्भवदसारान्मायामरीच्युदकगन्धर्वनगराकारस्वप्नजलबुद्बुद्फेनसमान्प्रतिक्षणप्रध्वंसान्[2]पृष्ठतः कृत्वाऽविद्याकामदोषप्रवर्तितकर्मचितान्धर्माधर्मनिर्वर्तितानित्येतद्ब्राह्मणस्यैव [3]विशेषतोऽधिकारः सर्वत्यागेन ब्रह्मविद्यायामिति ब्राह्मणग्रहणम्। परीक्ष्य लोकान्किं कुर्यादित्युच्यते—निर्वेदं निःपूर्वो विदिरत्र वैराग्यार्थे वैराग्यमायात्कुर्यादित्येतत्। स वैराग्यप्रकारः प्रदर्श्यते। इह संसारे नास्ति कश्चिदप्यकृतः पदार्थः। सर्व एव हि लोकाः कर्मचिताः कर्मकृतत्वाच्चानित्याः। न नित्यं किञ्चिदस्तीत्यभिप्रायः। सर्वं तु कर्मानित्यस्यैव साधनम्। यस्माच्चतुर्विधमेव हि सर्वं कर्मकार्यमुत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं वा, नातःपरं कर्मणो विशेषोऽस्ति अहं च नित्येनामृतेनाभयेन कूटस्थेनाचलेन ध्रुवेणार्थेनार्थी न तद्विपरीतेन। अतः किं कृतेन कर्मणाऽऽयासबहुलेनानर्थसाधनेनेत्येवं निर्विण्णोऽभयं शिवमकृतं नित्यं पदं यत्तद्विज्ञानार्थं विशेषेणाधिगमार्थं स निर्विण्णो ब्राह्मणो गुरुमेवाऽऽचार्यं शमदमदयादिसम्पन्नमभिगच्छेत्। शास्त्रज्ञोऽपि स्वातन्त्र्येण ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यादित्येतद्गुरुमेवेत्यवधारणफलम्। समित्पाणिः समिद्भारगृहीतहस्तः श्रोत्रियम[4]ध्ययनश्रुतार्थसम्पन्नं ब्रह्मनिष्ठं हित्वा सर्वकर्माणि केवलेऽद्वये ब्रह्मणि निष्ठा यस्य योऽयं ब्रह्मनिष्ठो जपनिष्ठस्तपोनिष्ठ इति यद्वत्। न हि कर्मिणो ब्रह्मनिष्ठता सम्भवति, कर्मात्मज्ञानयोर्विरोधात्[5]। स तं गुरुं विधिवदुपसन्नः प्रसाद्य पृच्छेदक्षरं पुरुषं सत्यम् ॥१२॥

---

[6]"नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च।
शीलं [7]स्थिति[8]र्दण्डनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः"

इति स्मृतेर्ब्राह्मणस्यैवाधिकार इत्यर्थः। कूटस्थेन परिणामरहितेनाचलेन स्पन्दरहितेन ध्रुवेण प्रयत्नरहितेनाहमर्थी। [9]'समित्पाणि'रिति विनयोपलक्षणम् ॥१२॥

एवं विरक्त हो चुका हूँ। अतः शुष्क काष्ठ में जैसे अग्नि शीघ्र प्रदीप्त हो जाती है, वैसे ही आपके

---

१. प्रतिषेधातिक्रमेति—निषिद्धाचरणेत्यर्थः। २. पृष्ठतः कृत्वेति-अनादृत्येति यावत्। ३. विशेषत इत्युक्त्या ब्राह्मणेतरस्यापि संन्यासेऽधिकारमनुमन्यत एव भाष्यकृदित्यवधेयम्। ४. अध्ययनेति—गुरुमुखादध्ययनेन शास्त्रतदर्थज्ञानवन्तमित्यर्थः। ५. विरोधादिति—उपमर्द्योपमर्दकत्वादित्यर्थः। ६. नैतादृशमिति शां. प. मो. ध.। शीलमिति—तत्रैवोक्तम्—

"अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा। अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत्प्रशस्यते ॥
यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्मपौरुषम्। अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्यात् कथञ्चन ॥
तत्तु कर्म तथा कुर्याद्येन श्लाघ्येत संसदि। शीलं समासेनैतत्ते कथितं कुरुसत्तम ॥ इति ॥

७. स्थितिर्मर्यादानतिक्रमः। ८. दण्डनिधानम्—प्राणिपीडनवर्जनम्।

९. संन्यासिगुरोः समिधामनुपयोगादाह—समित्पाणिरिति विनयोपलक्षणमिति।

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥१३॥

इति प्रथममुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥२॥ इति प्रथममुण्डकं समाप्तम् ॥१॥

[वह ब्रह्मवेत्ता गुरु अपने समीप आए हुए उस सम्यक प्रकार से प्रशान्त चित्त और जितेन्द्रिय शिष्य को उस परविद्या का पूर्ण रूप से उपदेश करे जिससे कि उस सत्य और अक्षर पुरुष का ज्ञान होता है, (न्यायानुसार उक्त रीति से उपदेश कर सच्छिष्य को अविद्या समुद्र से तार देना आचार्य का कर्तव्य होता है) ॥१३॥]

तस्मै स विद्वान्गुरुर्ब्रह्मविदुपसन्नायोपगताय । सम्यग्यथाशास्त्रमित्येतत् । प्रशान्तचित्ता-योपरतदर्पादिदोषाय । शमान्विताय बाह्येन्द्रियोपरमेण च युक्ताय सर्वतो विरक्तायेत्येतत् । येन विज्ञानेन यया विद्यया परयाऽक्षरमद्रेश्यादिविशेषणं तदेवाक्षरं पुरुषशब्दवाच्यं पूर्णत्वात्पुरि शयनाच्च सत्यं तदेव परमार्थस्वाभाव्यादक्षरं चाक्षरणादक्षतत्वादक्षयत्वाच्च वेद विजानाति तां ब्रह्मविद्यां तत्त्वतो यथावत्प्रोवाच प्रब्रूयादित्यर्थः । आचार्यस्याप्ययं नियमो यन्न्यायप्राप्तसच्छिष्यनिस्तारणमविद्यामहोदधेः ॥१३॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये प्रथममुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥२॥
इति मुण्डकोपनिषद्भाष्ये प्रथममुण्डकं समाप्तम् ॥१॥

अक्षरणादिति । अवयवान्यथाभावलक्षणपरिणामशून्यत्वात् । अक्षतत्वादिति । अक्षयत्वाच्चेति । अशरीरत्वाद्विकारशून्यत्वादित्यर्थः ॥१३॥

इति मुण्डकोपनिषद्भाष्यटीकायां प्रथममुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥२॥
इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्यटीकायां प्रथममुण्डकं समाप्तम् ॥१॥

द्वारा हुआ आध्यात्म ज्ञान मुझ में शीघ्र ही प्रदीप्त हो उठेगा। गुरु, श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिए अर्थात् वेद अध्ययन और उसके अर्थ ज्ञान से सम्पन्न हो, साथ ही साथ सम्पूर्ण कर्मों का परित्याग कर केवल अद्वितीय ब्रह्म में ही जिसकी निष्ठा हो, ऐसा ब्रह्मनिष्ठ भी हो। कोई जपनिष्ठ होता है, कोई तपनिष्ठ होता है। जो व्यक्ति अपने जीवन में जिसे कल्याण का सर्वोत्तम साधन मानता है, उसी में उसकी स्वाभाविक-निष्ठा हो जाती है—वैसे ही तत्त्वज्ञानी की स्वाभाविकनिष्ठा ब्रह्म में होती है। कर्म पारायण व्यक्ति की ब्रह्म में निष्ठा नहीं होती, क्योंकि कर्म और आत्मज्ञान में परस्पर विरोध है। इसलिये श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पुरुष ही ब्रह्म विद्या का उपदेशक आचार्य हो सकता है। विधि पूर्वक गुरु की सन्निधि में गया हुआ वह साधक श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु को सेवादि के द्वारा प्रसन्न करके अक्षर सत्य पुरुष के सम्बन्ध में पूछे ॥१२॥

शास्त्रविधि के अनुसार गुरु के निकट आये हुये दर्प आदि दोष से रहित प्रशान्तचित्त बाह्य इन्द्रियों की उपरामता रूप शम से युक्त अर्थात् सर्वतोभावेन विरक्त उस शिष्य को वह श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु उस विज्ञान का उपदेश करे जिस परा विद्या द्वारा अदृश्यादि विशेषणों से विशिष्ट पुरुष शब्दवाच्य उस अक्षर को अधिकारी साधक जान लेता हैं। सम्पूर्ण विश्व में पूर्णतया व्याप्त होने के कारण एवं

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। यथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥१॥

[वह यह (परमार्थ स्वरूप अक्षर ब्रह्म) परविद्या का विषय यथार्थ है। जिस प्रकार अच्छी प्रकार प्रज्वलित अग्नि से उसी के समान रूप वाली हजारों चिनगारियाँ निकलती हैं। हे प्रिय दर्शन! उसी प्रकार उस अक्षर ब्रह्म से अनेक देहादि रूप पदार्थ प्रकट होते हैं और पुनः उसी में लीन हो जाते हैं ॥१॥]

अपरविद्यायाः सर्वं कार्यमुक्तम्। स च संसारो यत्सारो यस्मान्मूलादक्षरात्सम्भवति यस्मिंश्च प्रलीयते तदक्षरं पुरुषाख्यं सत्यम्। यस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति तत्परस्या ब्रह्मविद्याया विषयः स वक्तव्य इत्युत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते। यदपरविद्याविषयं कर्मफललक्षणं[1] सत्यं तदापेक्षिकम्[2]। इदं तु परविद्याविषयं परमार्थतःसल्लक्षणत्वात्। तदेतत्सत्यं यथाभूतं विद्याविषयम्। अविद्याविषयत्वाच्चानृतमितरत्। अत्यन्तपरोक्षत्वात्कथं नाम प्रत्यक्षवत्सत्यमक्षरं प्रतिपद्येरन्निति दृष्टान्तमाह—यथा सुदीप्तात्सुष्ठु

द्वे विद्ये वेदितव्ये इत्युपन्यस्यापरविद्यामाद्यमुण्डकेन प्रपञ्च्य परविद्यां सूत्रितां प्रपञ्चयितुं द्वितीयमुण्डकारम्भ इत्याह—अपरविद्याया इत्यादिना। [3]कर्मणोऽपि प्रागसत्यत्वमुक्तं तद्वदिदं सत्यत्वं न मन्तव्यमित्याह—यदपरविद्याविषयमिति। विषीयते विशेष्यते विद्याऽनेनेति व्युत्पत्त्या विषयशब्दस्य वस्तुपरत्वान्नपुंसकलिङ्गत्वं परमार्थतः सल्लक्षणत्वादत्यन्ताबाध्यत्वादित्यर्थः। अत्यन्तपरोक्षत्वादिति। [4]शास्त्रैकगम्यत्वात्। अपूर्ववद्ब्रह्मणः प्रत्यक्षत्वं न सम्भवति साक्षात्काराधीनं च कैवल्यं ततः कथं नाम सत्यमक्षरं प्रत्यक्षवत्प्रतिपद्येरन्मुमुक्षव इत्यभिप्रेत्य जीवब्रह्मणोरेकत्वे दृष्टान्तमाह—यथा सुदीप्तादिति।

शरीर तथा ब्रह्माण्ड में असंग भाव से शयन करने के कारण उस अक्षर को पुरुष कहा गया है। वह अपने वास्तविक स्वभाव से कभी विचलित नहीं होता—इसलिये उसे अक्षर कहते हैं। अवयव अन्यथा-भाव रूप परिणाम का नाम क्षरण है, वह जिसमें न हो, उसे अक्षर कहते हैं क्योंकि वह शरीर-रहित है। इसलिए वह अक्षत और अक्षय भी कहा गया है। ऐसे अक्षर को जिस विज्ञान से मुमुक्षु साधक जानता है, उस ब्रह्मविद्या को ठीक-ठीक रीति से आचार्य आंगिरस ने शौनक से कह दिया। अतः अन्य आचार्य भी पूर्वोक्त रीति से समीप में आये हुए शिष्य को वैसे ही ब्रह्मविद्या का उपदेश करे। श्रुति के इस संकेत का स्पष्टीकरण भगवान् भाष्यकार ने 'प्रोवाच' पद का 'प्रब्रूयात्' अर्थ करके कर दिया है। क्योंकि आचार्य का यह नियम हो जाता है कि न्यायपूर्वक आये हुए शिष्य को अविद्या-महोदधि से पार कर दें ॥१३॥

❀ द्वितीय मुण्डक प्रथम खण्ड ❀

दो विद्या जानने योग्य हैं, ऐसी प्रतिज्ञा करके प्रथम मुण्डक द्वारा विस्तार पूर्वक अपरा विद्या

---

१. फललक्षणमिति फलेन लक्ष्यत इति तथा। २. आपेक्षिकमिति फलाव्यभिचारापेक्षसत्यत्ववदित्यर्थः। ३. उभयोस्तुल्यसत्ताकत्वे 'प्लवा ह्येते' इत्यादिना कर्मण एव निन्दाऽनुपपत्तिमनुसंधायाह—कर्मणोऽपीत्यादि।
४. शास्त्रैकगम्यत्वादिति शास्त्रैकगम्यत्वसामान्येन गौणमात्मनोऽत्यन्तपरोक्षत्वं नित्यापरोक्षत्वादात्मनः स्वरूपत इति भावः।

दीप्तादिद्धात्पावकादग्नेर्विस्फुलिङ्गा अग्न्यवयवाः सहस्रशोऽनेकशः प्रभवन्ते निर्गच्छन्ति सरूपा अग्निसलक्षणा एव तथोक्तलक्षणादक्षराद्विविधा नानादेहोपाधिभेदमनुविधीयमानत्वाद्विविधा हे सोम्य भावा जीवा आकाशादिवघटादिपरिच्छिन्नाः सुषिरभेदा घटाद्युपाधिप्रभेदमनुभवन्ति । एवं नानानामरूपकृतदेहोपाधिप्रभवमनुप्रजायन्ते तत्र चैव तस्मिन्नेवाक्षरेऽपि यन्ति देहोपाधिविलयमनुलीयन्ते घटादिविलयमन्विय सुषिरभेदाः । यथाऽऽकाशस्य सुषिरभेदोत्पत्तिप्रलयनिमित्तत्वं घटाद्युपाधिकृतमेव तद्वदक्षरस्यापि नामरूपकृतदेहोपाधिनिमित्तमेव जीवोत्पत्तिप्रलयनिमित्तत्वम् ॥१॥

एकत्वे सति प्रत्यग्रूपस्यापरोक्षत्वाद्ब्रह्मणोऽपि प्रत्यक्षत्वं भविष्यति घटैकदेशप्रत्यक्षत्वे घटप्रत्यक्षवदित्यर्थः । यथा विभक्तदेशावच्छिन्नत्वेन विस्फुलिङ्गेष्ववयवत्वादिव्यवहारः स्वतः पुनरग्न्यात्मत्वमेवोष्णप्रकाशत्वाविशेषात्तथा चिद्रूपत्वाविशेषाज्जीवानां स्वतो ब्रह्मत्वमेवेत्यर्थः ॥१॥

का सम्पूर्ण कार्य बतला दिया गया । अब द्वितीय मुण्डक आरम्भ किया जाता है । अपरा विद्या का विषय वह संसार ही है, किन्तु इसका जो सार है और जिस कारण अक्षर तत्त्व से यह संसार उत्पन्न होता है, जिसमें प्रलीन होता है; वह अक्षर पुरुष सत्य है, जिसके जानने पर यह सब जान लिया जाता है। वही ब्रह्म सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मविद्या का विषय है। उसी को बतलाने के लिये आगे का ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है। अपरा विद्या का विषय जो कर्मफल है वह आपेक्षिक सत्य है। इसीलिये प्रथम मुण्डक के द्वितीय खण्ड के प्रथम मन्त्र में उसे भी सत्य कहा है। किन्तु यह ब्रह्म परा विद्या का विषय होने से त्रिकालाबाधित परमार्थ सत्य है, क्योंकि त्रिकालाबाध्यत्व रूप परमार्थ सत्य का लक्षण इसमें घटता है।

विद्या का विषय पहले मन्त्र में बतलाया गया। अक्षर ब्रह्म पारमार्थिक सत्य है अथवा अक्षर ब्रह्म अत्यन्त परोक्ष है। इस पर शंका होती है कि अक्षर ब्रह्म अत्यन्त परोक्ष है उस अक्षर सत्य तत्त्व को प्रत्यक्ष की भाँति कोई कैसे समझ सकता है ? इस बात को समझाने के लिये अध्यारोप अपवाद न्याय का अनुसरण करते हुये श्रुति दृष्टान्त देती है। जैसे भली प्रकार प्रदीप्त अग्नि से अग्नि के अवयव रूप चिनगारियाँ अग्नि के समान ही दाह एवं प्रकाश स्वभाववाली अनेकों निकल पड़ती हैं, वैसे ही पूर्वोक्त लक्षणों से लक्षित अक्षर ब्रह्म से अनेक देह रूप उपाधि विशेष का अनुविधान करते हुए अनेक जीव उत्पन्न हो जाते हैं। और पुनः उसी अक्षर ब्रह्म में देह उपाधि विलय के पीछे लीन भी हो जाते हैं। हे सोम्य! जैसे घटादि उपाधि से परिच्छिन्न आकाशादि सुषिर भेद घटादि उपाधि भेद का अनुभव करते हैं, वैसे ही अनेक नाम रूप के किये हुए देह उपाधि जब उत्पन्न होते हैं तो जीव भी उत्पन्न हुआ माना जाता है। और देह उपाधि विलय के पीछे उसी अक्षर में ये सभी लीन हो जाते हैं। अर्थात् घटादि उपाधि के विलीन होते ही घटाकाश आदि भेद भी महाकाश में लीन हो जाते हैं, तात्पर्य यह है कि आकाश के घटाकाश आदि विशेष-विशेष भेद घट रूप उपाधि के पीछे उत्पन्न हुआ माना जाता है और उसके प्रलय के साथ घटाकाशादि का प्रलय हो जाता है। इसीलिये घटाकाश की उत्पत्ति और प्रलय घटादि उपाधि के उत्पत्ति और प्रलय निमित्त से ही होता है। ठीक

---

१. उक्तलक्षणादिति—सोपाधिकादिति शेषः । २. दृष्टान्ते सरूपा इति विशेषणस्वारस्येन व्याचष्टे—जीवा इति ।
३. कृतेति कार्येत्यर्थः । ४. विवक्षितांशोक्त्या दृष्टान्ततात्पर्यमाह—विभक्तेत्यादिना ।

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥२॥

[(वह अक्षर ब्रह्म स्वयं प्रकाश होने के कारण) निश्चय ही दिव्य, आकार रहित, पुरुष, बाहर-भीतर-सर्वत्र-वर्तमान, अजन्मा, प्राणरहित, मनोरहित परिशुद्ध एवं (माया कार्य की अपेक्षा) श्रेष्ठ अक्षर (अव्याकृत प्रकृति) से भी उत्कृष्ट है ॥२॥]

नामरूपबीजभूतादव्याकृताख्यात्स्वविकारापेक्षया परादक्षरात्परं यत्सर्वोपाधिभेदवर्जितमक्षरस्यैव [1]स्वरूपमाकाशस्येव सर्वमूर्तिवर्जितं [2]नेति नेतीत्यादिविशेषणं विवक्षन्नाह । दिव्यो द्योतनवान्स्वयंज्योतिष्ट्वात् । दिवि वा स्वात्मनि भवोऽलौकिको वा । हि यस्मादमूर्तः [3]सर्वमूर्तिवर्जितः पुरुषः पूर्णः पुरिशयो वा । दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरः सह बाह्याभ्यन्तरेण वर्तत इति । अजो न जायते कुतश्चित्स्वतोऽन्यस्य जन्मनिमित्तस्य चाभावात् । यथा जलबुद्बुदादेर्वाय्वादि । यथा नभःसुषिरभेदानां घटादिसर्वभावविकाराणां जनिमूलत्वात्तत्प्रतिषेधेन सर्वे प्रतिषिद्धा भवन्ति । सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजोऽतोऽजरोऽमृतोऽक्षरो ध्रुवोऽभय इत्यर्थः । यद्यपि देहाद्युपाधिभेददृष्टीनामविद्याव-

---

अक्षरस्यापि जीवोत्पत्तिप्रलयनिमित्तत्वमौपाधिकमुक्तमेकत्वसिद्ध्यर्थम् । तत्त्वतस्तु निमित्तनैमित्तिकभावोऽपि नास्तीत्याह—नामरूपबीजभूतादिति । देहापेक्षया यद्बाह्यमान्तरं च प्रसिद्धं तेन सह तत्तादात्म्येन तदधिष्ठानतया वा वर्तत इति सबाह्याभ्यन्तरः । अत एव सर्वात्मत्वात्तद्व्यतिरिक्तनिमित्ताभावादज इत्यर्थः । जायतेऽस्ति वर्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते विनश्यतीत्येवमादिभावविकाराणां निषेधे तात्पर्यमजशब्दस्याऽऽह—सर्वभावविकाराणामिति । जीवानां प्राणादिमत्त्वात्तदात्मत्वे ब्रह्मणोऽपि प्राणादिमत्त्वं प्राप्तं तन्निवर्तयति—यद्यपीत्यादिना । स्मृतिसंशयाद्यनेक[4]ज्ञानेषु शक्तिविशेषोऽ[5]स्या-

---

वैसे ही अक्षर ब्रह्म से जीव की उत्पत्ति और प्रलय का निमित्त भी नामरूप के किये हुए देह उपाधि ही तो है। नामरूप देहात्मक उपाधि के उत्पन्न होने पर जीव उत्पन्न हुआ और उपाधि के लीन होने पर जीव ब्रह्म में लीन हो गया, ऐसा सभी व्यक्ति कहते हैं ।१॥

भूत-भौतिक प्रपञ्च अव्याकृत प्रकृति के विकार हैं। अपनी इस विकार की अपेक्षा से नाम रूप के बीज अव्याकृत प्रकृति को पर और अक्षर कहा गया है। उस अव्याकृत अक्षर से पर वह अक्षर है, जो सम्पूर्ण उपाधियों से रहित है। इसी अक्षर का स्वरूप बतलाते हैं, कि आकाश के समान सम्पूर्ण आकार से रहित निराकार स्वरूप है जिसे 'नेति नेति' इत्यादि विशेषणों की विवक्षा करते हुए श्रुति कहती हैं, वह परमात्मा स्वयंप्रकाश होने से द्युतिवाला दिव्य है। द्युलोक में जो रहता हो, या अपने आत्मा में स्थित हो अथवा लोकोत्तर पदार्थ हो, उसे

---

१. स्वरूपमिति—अधिष्ठानत्वादबाध्यं रूपमित्यर्थः । २. नेति नेतीत्यादिविशेषणमिति—मूर्तामूर्तादिद्वैतनिषेधावधित्वविशेषणकमित्यर्थः । ३. सर्वमूर्तिवर्जित इति सर्वाकाररहितो निराकार इत्यर्थः । ४. ज्ञानेष्वित्यनुकूलत्वं सप्तम्यर्थस्तथा च ज्ञानानुकूलशक्तीत्यर्थः । ५. अस्य=मनसः ।

शाद्देहभेदेषु सप्राणः समनाः सेन्द्रियः सविषय इव प्रत्यवभासते तलमलादिमदिवाऽऽकाशं
तथाऽपि तु स्वतः परमार्थदृष्टीनामप्राणोऽविद्यमानः क्रियाशक्तिभेदवांश्चलनात्मको वायु-
र्यस्मिन्नसावप्राणः । तथाऽमना अनेकज्ञानशक्तिभेदवत्संकल्पाद्यात्मकं मनोऽप्यविद्यमानं
यस्मिन्सोऽयममना अप्राणो ह्यमनाश्चेति । प्राणादिवायुभेदाः कर्मेन्द्रियाणि तद्विषयाश्च
तथा च बुद्धिमनसी बुद्धीन्द्रियाणि तद्विषयाश्च प्रतिषिद्धा वेदितव्याः । तथा च श्रुत्यन्तरे-
ध्यायतीव लेलायतीवेति । यस्माच्चैवं प्रतिषिद्धोपाधिद्वयस्तस्माच्छुभ्रः शुद्धः । अतोऽक्षरा-
न्नामरूपबीजोपाधिलक्षितस्वरूपात्सर्वकार्यकारणबीजत्वेनोपलक्ष्यमाणत्वात्परं तदुपाधि-
लक्षणमव्याकृताख्यमक्षरं सर्वविकारेभ्यस्तस्मात्परतोऽक्षरात्परो निरुपाधिकः पुरुष
इत्यर्थः । यस्मिंस्तदा[1]काशाख्यमक्षरं [2]सव्यवहारविषय[3]मोतं प्रोतं च । कथं पुनरप्राणादि-
मत्त्वं तस्येत्युच्यते । यदि हि प्राणादयः प्रागुत्पत्तेः पुरुष इव स्वेनाऽऽत्मना सन्ति तदा
पुरुषस्य प्राणादिना विद्यमानेन प्राणादिमत्त्वं भवेन्न तु ते प्राणादयः प्रागुत्पत्तेः पुरुष
इव स्वेनाऽऽत्मना सन्ति । अतोऽप्राणादिमान्परः पुरुषः । यथाऽनुत्पन्ने पुत्रेऽपुत्रो
देवदत्तः ॥२॥

स्तीति [4]तथोक्तं नामरूपयोर्बीजं ब्रह्म तस्योपाधितया लक्षितं शुद्धस्य कारणत्वानुपपत्त्या गमितं
स्वरूपमस्येति तथोक्तम् । तस्मादुपाधिरूपात्तद्विशिष्टरूपाच्च परतोऽक्षरात्पर इति सम्बन्धः । कथं माया-
तत्त्वस्याक्षरस्य परत्वमित्याकाङ्क्षायामाह—सर्वकार्येति । कार्यं ह्यपरं प्रसिद्धम् । तत्कारणत्वेन
गम्यमानत्वान्मायातत्त्वं परम् । [5]यौक्तिकबाधादनिर्वाच्यत्वेऽपि स्वरूपोच्छेदाभावादक्षरम् ।

तदुक्तं गीतायाम्—"क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः" इति ॥२॥

दिव्य कहते हैं क्योंकि वह सम्पूर्ण मूर्त्ति यानी आकार से रहित है; वह पूर्ण है अथवा शरीर या ब्रह्माण्ड रूप पुर में असंग भाव से निवास करता है। इसलिये वह पुरुष है। वह दिव्य अमूर्त्त पुरुष देह की अपेक्षा से बाहर और भीतर भी विद्यमान है। इसलिये उसे "सबाह्याभ्यन्तरः" कहा गया है, वह किसी कारण से उत्पन्न नहीं होता। इतना ही नहीं, किन्तु साधन निरपेक्ष साक्षात् अपरोक्ष होने के कारण सदा विद्यमान है। अतः प्रकट ही नहीं होता हैं क्योंकि उससे भिन्न उसके जन्म या साक्षात्कार कोई निमित्त है ही नहीं। जैसे जल के बुल-बुले आदि के निमित्त वायु आदि है—ऐसा उसके उत्पत्ति का कोई निमित्त नहीं है। वह तो सुषिर भेद का एक-मात्र स्वरूप आकाश के समान है। अर्थात् घटादि उपाधि के कारण जैसे घटाकाश आदि व्यवहार होते हुए भी वे वस्तुतःमहाकाश स्वरूप ही हैं। वैसे ही देहादि उपाधि के कारण से जीव-ईश आदि भेद होते हुए भी वस्तुतः चिन्मात्र स्वरूप अजन्मा ही है। घटादि सम्पूर्णभाव विकार के उत्पत्ति कारण का निषेध कर देने पर घटाकाश

---

१. आकाशाख्यमिति अव्याकृताकाशाख्यमित्यर्थः । २. सव्यवहारविषयमिति=व्यवहारः शब्दः नामेति यावत् । नाम्नः शब्दात्मकत्वात् विषयो रूपम्=तथा च नामरूपात्मककार्यसहितमित्यर्थः । ३. ओतं च प्रोतं चेति अध्यस्तमिति यावत् । ४. तथोक्तमिति अनेकज्ञानशक्तिभेदवदित्युक्तं मन इत्यर्थः । ५. यौक्तिकबाधादिति सत्त्वेनासत्त्वेन तदुभयरूपत्वेन । सावयवत्वेन निरवयवत्वेन तदुभयरूपत्वेन । भिन्नत्वेनाभिन्नत्वेत तदुभयरूपत्वेन वा निर्वक्तुमशक्यत्वं यौक्तिकबाधः । निरुक्तयुक्तिभिः साधयितुमशक्यस्वरूपत्वमित्यर्थः ।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥३॥

[इसी अक्षर ब्रह्म से प्राण उत्पन्न होता है तथा इससे ही मन, सभी इन्द्रियाँ आकाश, वायु, अग्नि, जल और सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाली पृथिवी उत्पन्न होती है ॥३॥

कथं ते न सन्ति प्राणादय इत्युच्यते । यस्मादेतस्मादेव पुरुषान्नामरूपबीजोपाधिलक्षिताज्जायत उत्पद्यतेऽविद्याविषयविकारभूतो नामधेयोऽनृतात्मकः प्राणः "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" "अनृतम्" इति श्रुत्यन्तरात् । न हि तेनाविद्याविषयेणानृतेन प्राणेन सप्राणत्वं परस्य स्यादपुत्रस्य स्वप्नदृष्टेनेव पुत्रेण सपुत्रत्वम् । एवं मनः सर्वाणि चेन्द्रियाणि विषयाश्चैतस्मादेव जायन्ते । तस्मात्सिद्धमस्य निरुपचरितमप्राणादिमत्त्वमित्यर्थः । यथा च प्रागुत्पत्तेः परमार्थतोऽसन्तस्तथा प्रलीनाश्चेति द्रष्टव्याः । यथा करणानि मनश्चेन्द्रियाणि च, तथा शरीरविषयकारणानि भूतानि । खमाकाशं वायुर्बाह्य

यदेव चैतन्यं निरुपाधिकं शुद्धमविकल्पं ब्रह्म यत्तत्त्वज्ञानाज्जीवानां कैवल्यं तदेव मायाप्रतिबिम्बितरूपेण कारणं भवतीत्याह—यस्मादेतस्मादेवेति । प्राणोत्पत्तेरूर्ध्वं तर्हि [1]सप्राणत्वं परमात्मनो भविष्यतीतिशङ्कानिवृत्त्यर्थं श्रुत्यन्तरप्रसिद्धं प्राणस्य विशेषणमाह—अविद्याविषय इति । नामधेय इति । वाङ्मात्रो न वस्तुवृत्त इत्यर्थः । प्राणादीनां पाठक्रमोऽयमर्थक्रमेण बाध्यते । "[3]गताः कलाः

आदि कल्पित नामरूप आदि सभी निषिद्ध हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि वह परमात्मा सर्वत्र बाह्याभ्यन्तर अजन्मा है। अतएव जरा रहित, मृत्यु रहित, नाश रहित, चलनादि क्रिया से शून्य और अभय है। श्रुति ने परमात्मा को अज कह के उपलक्षण रूप से सम्पूर्ण छः प्रकार के भाव विकारों का निषेध कर दिया है।

यद्यपि देहादि-उपाधि दृष्टिवाले लोगों की दृष्टि से अविद्या के कारण भिन्न-भिन्न शरीर में वह प्राणवाला, मनवाला, इन्द्रियवाला तथा विषयवाला जैसा प्रतीत होता है। किन्तु यह प्रतीति उसमें स्वच्छ आकाश में तलमलादि प्रतीति के समान है। फिर भी परमार्थ दृष्टि वाले तत्त्वज्ञानियों के लिये वह स्वरूपतः क्रियाशक्ति विशेषवाले चलनात्मक वायु से रहित है। अतः वह 'अप्राणः' कहा गया है। वैसे ही अनेक प्रकार के ज्ञान शक्ति विशेषवाला संकल्प आदि रूप मन भी जिसमें नहीं है। अतः वह आत्मा 'अमनाः' भी कहा गया है। प्राणादि वायु विशेष सभी कर्म-इन्द्रियाँ एवं उनके विषय इन सबका पूर्वोक्त वाक्यों से प्रतिषेध समझ लेना चाहिये। इसलिये दूसरी श्रुतियों में उसे "ध्यान करते हुए जैसे, चिन्तन करते हुए के जैसे" इत्यादि शब्दों से बतलाया है। इस प्रकार जब दोनों उपाधियों का प्रतिषेध कर दिया, तो इसीलिये वह शुभ्र यानी अविद्या आदि मल से रहित, शुद्ध कहा गया है। अतः नामरूप बीज उपाधि से लक्षित स्वरूप है और सम्पूर्ण कार्य एवं कारण के बीज रूप से उपलक्ष्यमाण अक्षर प्रकृति है, उससे परमात्मा को पर कहा गया है। ऐसे तो सम्पूर्ण विकारों की अपेक्षा परमेश्वर

---

१. अविद्येति भ्रान्तिसिद्धविकाररूप इत्यर्थः । २. सप्राणत्वमिति तथा च कादाचित्कत्वादप्राणत्वमपि निरुपचरितं न स्यादिति भावः । ३. मु० ३।२।७ ।

आवहादिभेदः । ज्योतिरग्निः । आप उदकम् । पृथिवी धरित्री विश्वस्य सर्वस्य धारिणी । [१]एतानि च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धोत्तरोत्तरगुणानि पूर्वपूर्वगुणसहितान्येतस्मादेव जायन्ते । संक्षेपतः परविद्याविषयमक्षरं निर्विशेषं पुरुषं सत्यं 'दिव्यो ह्यमूर्तं' इत्यादिना मन्त्रेणोक्त्वा पुनस्तदेव सविशेषं विस्तरेण वक्तव्यमिति प्रववृते, संक्षेपविस्तरोक्तो हि पदार्थः सुखाधिगम्यो भवति सूत्रभाष्योक्तिवदिति ॥३॥

पञ्चदश प्रतिष्ठाः" इति भूतेषु लयश्रवणेन प्राणानां भौतिकत्वावगमाद्भूतोत्पत्त्यनन्तरं प्राणोत्पत्तिर्द्रष्टव्येति । अभिमुखमागच्छन्वायुरावहः पुरतो गच्छन्प्रवह इत्यादिभेदः । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा [२]उत्तरोत्तरस्य गुणा येषां तानि तथोक्तानि । यथा शुक्लतन्त्ववस्थापन्नाद[३]न्वयिकारणाज्जायमानः पटः शुक्लगुणो जायते तथाऽऽकाशावस्थापन्नाद्ब्रह्मणो जायमानो वायुराकाशगुणेन शब्देनान्वितो जायते । तथैव वायुभावापन्नाद्ब्रह्मणोऽग्निस्तद्गुणेनान्वितो जायत इति द्रष्टव्यम् । ननु सूक्ष्माणि भूतानि प्रथममुत्पद्यन्ते । अनन्तरं तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोदिति पञ्चीकरणोपलक्षणार्थं त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चात्मकत्वमवगम्यते । तत एकैकस्य भूतस्य पञ्चगुणवत्त्वं वर्णितमन्यत्र कथमिह पञ्चीकरणमनादृत्य [४]प्रथमसर्ग एवाऽऽका[५]शस्यैकगुणत्वं वायोर्हि द्विगुणत्वं तेजसस्त्रिगुणत्वमित्याद्युच्यते । सत्यम् । भूतसर्गे तात्पर्याभावद्योतनाय प्रक्रियान्तरं न विरुध्यते । न ह्येतत्प्रतिबद्धं[६] किञ्चित्फलं श्रूयते । अत एव गुणगुणिभावोऽपि न वैशेषिकपक्षवदिह विवक्षितः । किन्तु राहोः शिर इतिवद्व्यपदेशमात्रम् । विस्तरेण त्वन्त्यकार्यपर्यन्तं तेन तेनाऽऽकारेण ब्रह्मैव विवर्तत इति प्रपञ्च्यते ततोऽतिरिक्तस्याणुमात्रस्यासम्भवात्तस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति प्रदर्शनार्थमित्यर्थः ॥३॥

की उपाधि से उपहित—अव्याकृत अक्षर भी पर कहा गया है, किन्तु उस अक्षर से भी निरुपाधिक पुरुष को श्रेष्ठ माना है; क्योंकि वह आकाश नाम वाला अक्षर व्यवहार के सहित सम्पूर्ण विषयों में ओत-प्रोत है ।

शङ्काः—फिर भला उसे प्राणादि से रहित कैसे कहते हो ?

समाधानः—यदि उत्पत्ति से पूर्व आत्मा के समान अपने रूपसे प्राणादि भी होते हैं । निःसन्देह विद्यमान प्राणादि उपाधि के कारण वह पुरुष भी प्राणादिमान् हो जाता, किन्तु वे प्राणादि उत्पत्ति से पूर्व स्वरूप से पुरुष की भाँति जब हैं ही नहीं तो उसे अप्राणादिमान् क्यों न कहा जाय ? जैसे पुत्र उत्पन्न होने से पहिले देवदत्त को अपुत्र कहा जाता है । ऐसे ही प्राणादि की उत्पत्ति से पहिले परमात्मा को 'अप्राणो ह्यमनः' कहा गया है । अतः वह पर पुरुष प्राणादि रहित है ॥२॥

परमात्मा में जिन प्राणादि का निषेध किया गया है, वे प्राणादि परमात्मा में क्यों नहीं हैं ? इस शङ्का का समाधान श्रुति देती है क्योंकि नाम-रूप एवं इसके बीज से उपलक्षित इस परमात्मा से ही प्राणादि उत्पन्न होते हैं । जो कि अविद्या के विषय विकार नाम मात्र के हैं, अतएव अनृत हैं । 'विकार वाणी मात्र कहने के लिये है, वस्तुतः नहीं है' । 'अतः मिथ्या है'—ऐसा दूसरी श्रुति भी कहती है । अविद्या के कार्य मिथ्या प्राण से उस परमात्मा में सप्राणत्व वैसे ही नहीं आ सकता, जैसे—अपुत्र व्यक्ति

१. यदुक्तं विषयाश्चेति तद्व्यनक्ति—एतानि चेत्यादिना । २. उत्तरेत्यादि—उत्तरोत्तरगुणा इति पाठान्तरम् । ३. अन्वयिकारणादिति—अनुगततुलात्मकादित्यर्थः । ४. प्रथमसर्ग एवेति प्रथमो हि सूक्ष्माणां भूतानां सर्गो वक्तव्यस्ततः पञ्चीकरणेन स्थूलभूतसर्गो द्वितीयस्ततः प्रत्येकं पञ्चगुणत्वमेव वर्णयितव्यमासीदिति भावः । ५. शब्दस्पर्शेत्यादिभाष्यतात्पर्यं व्यनक्ति—आकाशस्यैकगुणत्वमित्यादिना । ६. प्रतिबद्धं=सम्बद्धं प्रयुक्तमिति यावत् ।

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥४॥

[अग्नि जिसका मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ श्रोत्र, प्रसिद्ध वेद जिसकी वाणी है, वायु प्राण है, समस्त जगत् जिसका हृदय है और जिसके चरणों से पृथिवी प्रकट हुई है। वही देव सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा है ॥४॥]

योऽपि प्रथमजात्प्राणाद्धिरण्यगर्भाज्जायतेऽण्डस्यान्तर्विराट् स [1]तत्त्वान्तरितत्वेन लक्ष्यमाणोऽप्येतस्मादेव पुरुषाज्जायत एतन्मयश्चेत्येतदर्थमाह। तं च विशिनष्टि। अग्निर्द्युलोकः "असौ वाव लोको गौतमाग्निः" इति श्रुतेः। मूर्धा यस्योत्तमाङ्गं शिरः। चक्षुषी चन्द्रश्च सूर्यश्चेति। चन्द्रसूर्यौ यस्येति सर्वत्रानुषङ्गः कर्तव्यः। अस्येत्यस्य पदस्य वक्ष्यमाणस्य यस्येति विपरिणामं कृत्वा, दिशः श्रोत्रे यस्य। वाग्विवृता उद्घाटिताः प्रसिद्धा वेदा यस्य वायुः प्राणो यस्य हृदयमन्तःकरणं विश्वं समस्तं जगदस्य यस्येत्येतत्। सर्वं ह्यन्तःकरणविकारमेव जगन्मनस्येव [2]सुषुप्ते प्रलयदर्शनात्। जागरितेऽपि तत एवाग्निविस्फुलिङ्गवद्वि[3]प्रतिष्ठानात्। यस्य च पद्भ्यां जाता [4]पृथिवी। एष देवो विष्णुरनन्तः प्रथमशरीरी त्रैलोक्यदेहोपाधिः सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा स हि सर्वभूतेषु द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता [5]सर्वकारणात्मा ॥४॥

सर्वेषां भूतानामिति। पञ्चमहाभूतानाम्। अन्तरात्मा स्थूलपञ्चभूतशरीरो हि विराडित्यर्थः।

में स्वप्न दृष्ट पुत्र द्वारा पुत्रत्व नहीं आता है। कल्पित मिथ्यावस्तु से अधिष्ठान का सम्बन्ध नहीं होता यह सर्वत्र लोक में देखा गया है। ऐसे ही मन, सभी इन्द्रियाँ और सभी विषय इसी परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। अतः परमात्मा में परमार्थतः अप्राणादिमत्व है, यह बात सिद्ध हुई।

जैसे उत्पत्ति से पूर्व सम्पूर्ण विश्व असत् है, वैसे ही उत्पत्ति के बाद भी परमार्थ-दृष्टि से असत् ही है तथा प्रपञ्च का विलय भी हो जाता है–ऐसा समझना चाहिये। जैसे प्राण, मन और इन्द्रियाँ परमात्मा से उत्पन्न होते हैं, वैसे ही शरीर और विषय के कारण पञ्चभूत भी उस परमात्मा से ही उत्पन्न होते हैं। आकाश (आगमन तथा गमन क्रियावाला) बाह्याभ्यन्तर वायु, अग्नि, जल और सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी इसी परमात्मा से उत्पन्न होते हैं। आकाश में शब्द ही एक विशेष गुण है, वायु में शब्द और स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस तथा पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध गुण देखे जाते हैं। अतः ये पूर्व-पूर्व कारण के गुण सहित अपने गुण से विशिष्ट पञ्चभूत इसी अक्षर परमात्मा से उत्पन्न होते हैं। संक्षेप में इतना ही समझो कि परा विद्या से जानने योग्य निर्विशेष अक्षर सत्य पुरुष को 'दिव्यो ह्यमूर्तः' इत्यादि मन्त्र से बतलाने के बाद पुनः उसी को सविशेष रूप में विस्तार पूर्वक कहने के लिये श्रुति प्रवृत्त हुई है

१. तत्त्वान्तरितेति–तत्त्वेन हिरण्यगर्भाख्येन अन्तरितो व्यवहितः परमात्मनोऽक्षरादित्यर्थः। २. सुषुप्त इति–सुषुप्तावित्यर्थः। ३. विप्रतिष्ठानादिति निःसरणादित्यर्थः। ४. पृथिवीपादावित्यर्थः। ५. सर्वकारणात्मेति सर्वेषां कारणानां चक्षुरादिकरणानामित्यर्थः। आत्मा स्वरूपभूतः–अधिष्ठानत्वात् प्रेरकत्वादिति भावः।

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् ।
पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्सम्प्रसूतः ॥५॥

[उस ब्रह्म से (प्रजापति के अवस्था विशेष रूप से) अग्नि उत्पन्न हुई, जिसका समिधा सूर्य है, (क्योंकि सूर्यलोक से ही द्युलोक रूप अग्नि प्रदीप्त होती है।) पुनः सोम से मेघ और उससे पृथिवी में औषधियाँ उत्पन्न होती हैं। (उन औषधियों से उत्पन्न हुए) वीर्य को पुरुष योषित रूप अग्नि में सींचता है। इस प्रकार ब्राह्मणादि रूप बहुत-सी प्रजा परम पुरुष से उत्पन्न हुई है ॥५॥]

पञ्चाग्निद्वारेण च याः संसरन्ति प्रजास्ता अपि तस्मादेव पुरुषात्प्रजायन्त इत्युच्यते । तस्मात्परस्मात्पुरुषात्[1]प्रजावस्थानविशेषरूपोऽग्निः स विशिष्यते । समिधो यस्य सूर्यः समिध इव समिधः । सूर्येण हि द्युलोकः [2]समिध्यते । ततो हि द्युलोकान्निष्पन्नात्सोमात्पर्जन्यो द्वितीयोऽग्निः सम्भवति । तस्माच्च पर्जन्यादोषधयः पृथिव्यां सम्भवन्ति । ओषधिभ्यः पुरुषाग्नौ हुताभ्य [3]उपादानभूताभ्यः पुमानग्नौ रेतः सिञ्चति योषितायां योषिति योषाग्नौ स्त्रियामिति । एवं क्रमेण बह्वीर्बह्व्यः प्रजा ब्राह्मणाद्याः पुरुषात्परस्मात्सम्प्रसूताः समुत्पन्नाः ॥५॥

पञ्चाग्निद्वारेणेति । **द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषित्सु पञ्चस्वग्निदृष्टेः श्रुत्यन्तरचोदितत्वात्तद्द्वारेणेत्यर्थः ॥४॥५॥**

क्योंकि पहले संक्षेप और पीछे उसी को विस्तार से कहने पर पदार्थ सुख पूर्वक जान लिया जाता है। जैसे पहले सूत्र, पीछे भाष्य दोनों उक्तियाँ अर्थ को विस्पष्ट करती हैं। ऐसे ही संक्षिप्त तथा विस्तार उभय रूप से बतलाये गये पदार्थ सुखाधिगम्य हो जाते हैं ॥३॥

परमात्मा से सर्वप्रथम समष्टि प्राण यानि हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ है। उस हिरण्यगर्भ से ब्रह्माण्ड के भीतरवर्ती जो विराट् है। वह तत्त्वान्तर रूप से लक्षित होते हुए भी वास्तव में इस परमात्मपुरुष से ही उत्पन्न हुआ है और वह परमात्म स्वरूप ही है। इसीको चौथे मन्त्र से श्रुति कहती है। उस विराट् पुरुष का विशेषण बतलाते हैं 'हे गौतम! वह द्युलोक ही अग्नि है'—इस श्रुति में द्युलोक को अग्नि कहा गया है। ऐसी अग्नि जिस परमात्मा का उत्तमाङ्ग शिर है, चन्द्र और सूर्य जिसके नेत्र हैं। इस मन्त्र में आये हुए 'अस्य' इस वक्ष्यमाण पद का 'यस्य' इस रूप से विपरिणाम करके उसका अन्वय सर्वत्र करना चाहिये। दिशाएँ जिस परमात्मा के श्रोत्र हैं, वेद जिस परमात्मा की पवित्र बाणी है, वायु जिस परमात्मा का प्राण हैं और सम्पूर्ण जगत् जिस परमात्मा का हृदय यानी अन्तःकरण है क्योंकि सम्पूर्ण जगत् अन्तःकरण का ही विकार है। सुषुप्ति में मन के सोजाने पर प्रलय देखा जाता है और मन के जगते ही उसीसे अग्नि की चिनगारी की भाँति उत्पत्ति होती है। जिसके पाद से पृथिवी उत्पन्न हुई है, सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा त्रैलोक्य देह उपाधिवाला प्रथम शरीरी व्यापक अनन्तदेव यही है ॥४॥

---

१. प्रजेत्यादि—देवप्रजावस्थानस्वर्गरूप इत्यर्थः। २. समिध्यत इति अन्तर्भावितण्यर्थत्वेन सकर्मकतामादाय कर्मणि लट्। ३. उपादानभूताभ्य इति। रेत इति शेषः।

तस्मादृचः साम यजूꣳषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च ।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥६॥

[उस पुरुष से ही (नियत पाद अक्षर वाले) ऋचाएँ (पाञ्चभक्तिक आदि गान विशिष्ट रूप) साम मन्त्र, (अनियत पाद अक्षर वाले) यजुर्मन्त्र, मौञ्जी बन्धनादि दीक्षा, अग्निहोत्रादि यज्ञ, दक्षिणा, सम्वत्सर (सम्वत्सर रूप कर्माङ्गकाल) यज्ञकर्ता यजमान, लोक, जिन लोकों में चन्द्रमा जहाँतक पवित्र करता है तथा सूर्य तपता है, वे सभी उत्पन्न होते हैं ॥६॥]

किञ्च [1]कर्मसाधनानि फलानि च तस्मादेवेत्याह । कथं तस्मात्पुरुषादृचो [2]नियताक्षर-पादावसाना गायत्र्यादिच्छन्दोविशिष्टा मन्त्राः । सामपाञ्चभक्तिकं साप्तभक्तिकं च [3]स्तोभादिगीतविशिष्टम् । यजूंष्यनियताक्षरपादावसानानि वाक्यरूपाण्येवं त्रिविधा मन्त्राः । दीक्षा[4]मौञ्ज्यादिलक्षणाः कर्तृ नियमविशेषाः । यज्ञाश्च सर्वेऽग्निहोत्रादयः । क्रतवः सयूपाः । दक्षिणाश्चैकगवाद्यपरिमितसर्वस्वान्ताः । संवत्सरश्च कालः कर्माङ्गं । यजमानश्च कर्ता । लोकास्[5]तस्य कर्मफलभूतास्ते विशेष्यन्ते सोमो यत्र येषु लोकेषु पवते पुनाति लोकान्यत्र येषु सूर्यस्तपति च ते च दक्षिणायनोत्तरायणमार्गद्वयगम्या विद्वदविद्वत्कर्तृ फलभूताः ॥६॥

पाञ्चभक्तिकमिति । हिङ्कारप्रस्तावोद्गीथप्रतिहारनिधनाख्याः पञ्च भक्तयोऽवयवा यस्य तत्तथोक्तम् । साप्तभक्तिकमिति । हिङ्कारप्रस्तावाद्युद्गीथप्रतिहारोपद्रवनिधनाख्याः सप्त भक्तयो यस्य तत्तथोक्तम् । स्तोभोऽर्थशून्यो वर्णः । विश्वजित्सर्वमेधयोः सर्वस्वदक्षिणा अत एकां गामारभ्य सर्वस्वान्ता दक्षिणा भवन्तीत्यर्थः ॥६॥

सबका कारणरूप परमात्मा ही सम्पूर्ण भूतों में द्रष्टा श्रोता, मन्ता एवं विज्ञातारूप से स्थित है । और पञ्चाग्नि द्वारा जो प्रजा संसार में संसरण करती रहती है, वह भी उस परमात्म पुरुष से ही उत्पन्न होती है । इसी बात को आगे के मन्त्र से कहते हैं । उस परम पुरुष परमात्मा से प्रजा का अवस्थान विशेष रूप अग्नि उत्पन्न होती है । यहाँ पर पञ्चाग्नि विद्या में बतलाये गये द्युलोक रूप अग्नि अर्थ समझना चाहिए अर्थात् अग्नि शब्द का द्युलोक अर्थ करना चाहिये । अतः वह विशिष्ट अग्नि है, जिसकी समिधा सूर्य है क्योंकि सूर्य से ही द्युलोक प्रदीप्त होता है । इसलिये समिधा न होते हुए भी सूर्य को स्मृति ने समिधा कहा है । जैसे समिधा से तार्ण वह्नि प्रदीप्त होती है, वैसे ही सूर्य से द्युलोक प्रदीप्त होता है । उस द्युलोक में आहुति की गई श्रद्धा सोमरूप से सम्पन्न होती है । उस सोम से पर्जन्य रूप द्वितीय-अग्नि उत्पन्न होती है पुनः पर्जन्य से पृथिवी में औषधियाँ उत्पन्न होती हैं, एवं पुरुषरूप अग्नि में उपादान भूत आहुति की गई औषधि से रेत (वीर्य) उत्पन्न होता है । इसीलिये पुरुष को अग्नि कहा गया है । पुनः पुरुष उस रेत को स्त्रीरूप अग्नि में आहुति करता है । इस क्रम से ब्राह्मणादि बहुत-सी प्रजायें उस पर पुरुष परमात्मा से उत्पन्न हुई हैं ।

---

१. कर्मसाधनानीति कर्मात्मकानि साधनानीत्यर्थः । २. नियताक्षरैः पादसमाप्तिर्येषां ते तथोक्ताः । ३. स्तोभादीत्यादिनाऽर्थवद्वर्णग्रहस्तथा च गीयमानस्तोभादिवर्णविशिष्टमित्यर्थः । ४. मौञ्ज्यादीति—आदिना मङ्गलसूत्रादिग्रहः । ५. तस्येति यजमानस्येत्यर्थः ।

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि ।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥७॥

[उस पुरुष से ही (कर्म के अङ्गभूत) बहुत से वसु आदि देवता उत्पन्न हुए हैं तथा साध्यगण कर्माधिकारी मनुष्य, पशु-पक्षी, श्वास, उच्छ्वास, व्रीहियवादि हविष्यान्न, तप (सम्पूर्ण पुरुषार्थ के साधनों का एक मात्र कारण), आस्तिक्य बुद्धिरूप श्रद्धा, हित-मित भाषण, अष्ट मैथुनों का त्याग रूप ब्रह्मचर्य और विधि ये सभी उस पुरुष से ही उत्पन्न हुए हैं ॥७॥]

तस्माच्च पुरुषात्कर्माङ्गभूता देवा बहुधा वस्वादिगणभेदेन सम्प्रसूताः सम्यक्प्रसूताः । साध्या देवविशेषाः । मनुष्याः कर्माधिकृताः । पशवो ग्राम्यारण्याः । वयांसि पक्षिणः । जीवनं

द्युलोक रूप अग्नि में श्रद्धा की आहुति डाली जाती है। वहाँ श्रद्धा सोमरूप से निष्पन्न होती है, उस श्रद्धा को पर्जन्य रूप अग्नि में देवता लोग हवन करते हैं। जब वह सोमपर्जन्य में वर्षारूप से परिणत होता है तो फिर पर्जन्य पृथिवीरूप अग्नि में उसे जलरूप से वर्षा देता है। पृथिवी के संसर्ग से जब वह औषधि का रूप धारण कर लेता है, तो उस औषधि का हवन पुरुष रूप अग्नि में करने पर अन्तिम परिणाम वीर्य तैयार हो जाता है और उस रेत का हवन जब पुरुष स्त्री में करता है तब वह जन्म के बाद पुरुष संज्ञा को प्राप्त होता है। इस प्रकार पञ्चाग्नि द्वारा संसरण करने वाली बहुत-सी प्रजायें उस परमात्मा से ही उत्पन्न होती हैं ॥५॥

'किं बहुना' कर्मों के साधन और फल भी उस परमात्मा से ही उत्पन्न हुए हैं। इसी को श्रुति कहती है—कैसे ? उस परमात्म पुरुष से नियत अक्षर और पाद के रूप में समाप्त होने वाले गायत्री आदि छन्दों से विशिष्ट ऋग्मन्त्र उत्पन्न हुए हैं—हिङ्कार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन नामक पाँच अवयव वाले पाञ्चभक्तिक तथा हिङ्कार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, स्तोभ, उपद्रव और निधन नामक सात अवयववाले साप्तभक्तिक स्तोभ आदि गीत से विशिष्ट साम पैदा हुआ है। जिनके अक्षर और पाद नियत नहीं हैं, ऐसे यजुर्मन्त्र उसी परमात्मा से पैदा हुए। इस प्रकार पूर्वोक्त त्रिविध मन्त्र उस परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। मौञ्जी बन्धन आदि यज्ञ कर्ता के नियम विशेष को दीक्षा कहते हैं। ऐसी दीक्षा भी उस परमात्मा से ही उत्पन्न हुई है। सभी अग्निहोत्रादि यज्ञ यूपके सहित क्रतु उसीसे उत्पन्न हुए हैं। एक गौ से लेकर अपरिमित सर्वस्व दान रूप दक्षिणा और कर्मों के अङ्ग संवत्सर रूप काल, कर्ता यजमान भी उसी से उत्पन्न हुए हैं। उस कर्ता के लिये कर्म फल रूप लोक उसीसे उत्पन्न हुए हैं। जिन लोकों को सोम पवित्र करता है, और जहाँ पर लोकों को सूर्य तपाता है। ऐसे दक्षिणायण और उत्तरायण मार्ग द्वारा प्राप्त होने योग्य कर्मी और उपासक के फल रूप लोक, उस परमेश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं ॥६॥

उसी परमात्मा से कर्मों के अङ्गभूत वसु आदि गणरूप अनेक देवता सम्यक् प्रकार से उत्पन्न हुए हैं। देवताओं की जाति विशेष साध्यगण, कर्म के अधिकारी मनुष्य, ग्रामीण और आरण्यक पशु एवं पक्षी उसी परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। प्राणापान मनुष्यादि के जीवन हैं। व्रीहि और यव हविष्य के लिये उसी परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं। पुरुषों के संस्कार के लिये कर्माङ्ग और स्वतन्त्र फल के साधन रूप तप उस परमात्मा से उत्पन्न हुए, दीक्षित यजमान में से ब्राह्मण के लिये पयोव्रत, क्षत्रिय के लिये यवागू (लपसी) और वैश्य के लिये छेना खाकर व्रत करने का विधान है। कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रत

च मनुष्यादीनां प्राणापानौ। व्रीहियवौ हविरर्थौ। तपश्च कर्माङ्गं 'पुरुषसंस्कारलक्षणं स्वतन्त्रं च फलसाधनम्। श्रद्धा यत्पूर्वकः सर्वपुरुषार्थसाधन'प्रयोगश्चित्तप्रसाद आस्तिक्यबुद्धिस्तथा सत्यमनृतवर्जनं यथाभूतार्थवचनं चापीडाकरम्। ब्रह्मचर्यं मैथुनासमाचारः। विधिश्चेतिकर्तव्यता' ॥७॥

तपश्च कर्माङ्गमिति। पयोव्रतं ब्राह्मणस्य यवागू' राजन्यस्याऽऽमिक्षा' वैश्यस्येत्यादिविहितं स्वतन्त्रं कृच्छ्रचान्द्रायणादीत्यर्थः ॥७॥

को भी तप कहते हैं। श्रद्धापूर्वक सम्पूर्ण पुरुषार्थ प्राप्ति के लिए साधन करने पर चित्त की जो स्वस्थता होती है, तत्पश्चात् स्वच्छ अन्तःकरण में परलोक पुनर्जन्म एवं परमेश्वर में आस्तिक्य बुद्धि होती है, उसे श्रद्धा कहते हैं। ऐसी श्रद्धा परमात्मा से उत्पन्न हुई है। जैसा अनुभव किया हो वैसे ही दूसरे को पीड़ा न देने वाले मधुर शब्द में भाषण को सत्य कहते हैं। अष्टधा मैथुन के अभाव को ब्रह्मचर्य कहते हैं और इति-कर्तव्यता को विधि कहते हैं। ये सब भी उस परमात्मा से ही उत्पन्न हुए हैं ॥७॥

शिरःसस्थ दो कान, दो आँख, दो नाक और एक मुखको इस मन्त्र में 'सप्तप्राणाः' शब्द कहा गया है। सप्त प्राण उसी परमात्मा से उत्पन्न होते हैं इतना ही नहीं किन्तु सदा उसी परमेश्वर से प्रकाश पाकर ये अपने व्यापार में समर्थ भी होते हैं। विषयों के प्रकाशन के लिए पूर्वोक्त सात प्राणों की दीप्तियाँ (वृत्तियाँ) उसीसे उत्पन्न हुई हैं। समिधा स्थानीय सात विषय उसीसे उत्पन्न हुए हैं। विषयों से ही नेत्रादि इन्द्रिआँ प्रदीप्त होती हैं। इसलिये विषयों को समिधा कहा गया। विषयों के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध होने पर जो यथार्थ बोध होता है, उसे होम कहते हैं। ये सप्तविध होम भी उसी से उत्पन्न हुए हैं। 'विषयों का जो विज्ञान है, उसे हवन करता है' ऐसा अन्य श्रुतियों में भी कहा गया है। वैसे ही गोलकों में इन्द्रियाँ विचरती हैं, वे शिरःसस्थ सात इन्द्रिय-गोलक उसी परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। जिनमें प्राण विचरते हैं, ऐसा प्राणों का विशेषण देकर प्राण-अपान आदि की व्यावृति की गयी है अर्थात् प्राण शब्द का अर्थ प्राण-अपान आदि नहीं करना चाहिये, किन्तु जैसा पहले किया गया है, वैसा ही ठीक है। सुपुप्तावस्था में सातों प्राण शरीर या इन्द्रिय रूप गुफा में शयन करते हैं। इसलिये इन्हें गुहाशय कहा गया है। ऐसे प्रत्येक प्राणियों के लिये परमेश्वर ने पूर्वोक्त सात प्राणों की व्यवस्था की है, विशेष क्या कहें—संक्षेप में इतना ही समझना चाहिये कि यह सम्पूर्ण संसार और हम परमात्म स्वरूप ही हैं, ऐसी भावना पूर्वक परमेश्वर की आराधना बुद्धि से जो यजन करते हैं, इन आत्मयाजी उपासकों के कर्म और उनके फल तथा कर्मी के कर्म उनके साधन और फल सब कुछ उस सर्वज्ञ परमपुरुष परमात्मा से ही उत्पन्न हूए हैं। यही इस प्रकरण का अर्थ है ॥८॥

इस पुरुष से सभी लवणादि समुद्र, हिमालयादि पर्वत भी उत्पन्न हुए हैं। अनेक रूप में लोक हित के लिए बहनेवाली गंगादि पवित्र नदियाँ इस परमेश्वर से उत्पन्न होकर प्रवाहित होती रहती हैं, व्रीहि, यव आदि सभी औषधियाँ इसी परमात्मा से उत्पन्न हुईं। जिन रसों से लिङ्ग शरीर रूप अन्तर आत्मा स्थित रहता, जो कि पञ्चस्थूल भूतों से परिवेष्टित है शरीर और आत्मा के मध्य

---

१. पुरुषसंस्कारेति येन पुरुषः संस्कृतो भवति कर्मानुष्ठानयोग्यतापन्नो भवतीत्यर्थः। २. प्रयोगोऽनुष्ठानम्।
३. इतिकर्तव्यतेति। इदमित्थं करणीयमित्यनुष्ठानप्रकार इत्यर्थः। ४. यवागूरुष्णिका श्राणा लोके लप्सीतिख्याता।
५. आमिक्षा क्वथितोष्णपयसि दधिसंयोजनाद्या भवति विकृताख्या सेत्यर्थः।

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः ।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥८॥

[उस पुरुष से ही (दो नेत्र, दो श्रोत, दो घ्राण और एक मुख—ये मस्तकस्थ) सात प्राण उत्पन्न होते हैं । उसी से (अपने-अपने विषयों को प्रकाशित करनेवाली) उनकी सात दीप्तियाँ, सात विषय रूप समिधा, विषय विज्ञान रूप होम और जिन गोलकों में ये प्राण सञ्चार करते हैं, वे सात स्थान प्रकट हुए हैं। इस प्रकार प्रतिदेह में स्थापित ये सात-सात पदार्थ (उस पुरुष से ही उत्पन्न हुए हैं, ऐसा आत्मयाजी पुरुष को जानना चाहिये) ॥८॥]

किञ्च सप्त [1]शीर्षण्या प्राणास्तस्मादेव पुरुषात्प्रभवन्ति । तेषां च सप्तार्चिषो दीप्तयः स्वविषय[2]विद्योतनानि । तथा सप्त समिधः सप्त विषयाः । विषयैर्हि समिध्यन्ते प्राणाः । सप्त होमास्तद्विषय[3]विज्ञानानि "यद[4]स्य विज्ञानं [5]तज्जुहोति" इति श्रुत्यन्तरात् । किञ्च सप्तेमे लोका [6]इन्द्रियस्थानानि येषु चरन्ति सञ्चरन्ति [7]प्राणाः । प्राणा येषु चरन्तीति प्राणानां विशेषण[8]मिदं प्राणापानादि[9]निवृत्त्यर्थम् । गुहायां शरीरे हृदये वा स्वापकाले [10]शेरत इति गुहाशयाः । निहिताः स्थापिता धात्रा सप्त सप्त प्रतिप्राणिभेदम् । यानि चाऽऽत्मयाजिनां विदुषां कर्माणि कर्मफलानि चाविदुषां च कर्माणि तत्साधनानि कर्मफलानि च सर्वं चैतत्परस्मादेव पुरुषात्सर्वज्ञात्प्रसुतमिति प्रकरणार्थः ॥८॥

आत्मयाजिनामिति । सकलमिदमहं च परमात्मैवेतिभावनापूर्वकं परमेश्वराराधनबुद्धया ये यजन्ति तेषामित्यर्थः ॥८॥

में रहकर आत्मवत् प्रतीत होता है। इसीलिए सूक्ष्म शरीर को इस मन्त्र में अन्तरात्मा कहा गया है ॥९॥

इस प्रकार परमात्मा से ही ये सब उत्पन्न हुए । अतः ये नाम रूप विकार वाणी से कहने मात्र के लिये हैं । यानी मिथ्या हैं, परमात्मा से भिन्न उनकी सत्ता नहीं । इसलिये परमात्मा ही सत्य है; अतएव यह सम्पूर्ण विश्व परमात्म स्वरूप ही है । परमात्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है । अतः जो पहले शौनक ने पूछा था कि हे भगवन् ! किसके जानने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है, उसका यही उत्तर है कि सम्पूर्ण विश्व के कारण इस परमात्म पुरुष को जानलेने पर सम्पूर्ण विश्व परमात्मा ही है, अन्य कुछ भी नहीं है, ऐसा विज्ञात हो जाता है। अधिष्ठान से भिन्न कल्पित वस्तु की सत्ता नहीं मानी गयी है । इस-लिये यह कल्पित नामरूपात्मक जगत् अपने अधिष्ठान, ब्रह्मस्वरूप ही है । यह विश्व क्या है ? ऐसी आकाँक्षा होने पर कहते हैं कि अग्निहोत्रादि रूप कर्म, कृच्छ्रचान्द्रायण आदि तप तथा ज्ञानादि तप, उस

---

१. शीर्षण्या इति घ्राणाक्षिश्रवणद्वयं वाक्चेत्यर्थः । २. अवद्योतनानि=वृत्तिप्रयुक्ताः प्रकाशाः फलचैतन्यरूपा इत्यर्थः । ३. विज्ञानानि=वृत्तयः । ४. अस्येति । विषयस्येत्यर्थः । ५. म. नारा. । ६. इन्द्रियस्थानानि गोलकानि । ७. प्राणाः—गौणा इन्द्रियाणीत्यर्थः । ८. इदमिति चरन्तीत्येतदित्यर्थः । ९. निवृत्त्यर्थमिति गोलकेषु प्राणापानादीनामचरणादिति भावः । १०. शेरत इति लीयन्त इत्यर्थः ।

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥९॥

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ॥१०॥

इति द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥१॥

[इस पुरुष से ही क्षारादि सात समुद्र और हिमालयादि समस्त पर्वत उत्पन्न हुए हैं। गङ्गा आदि अनेक रूपों वाली नदियाँ इसी से प्रवाहित होती हैं। इसी से व्रीहि, यवादि सम्पूर्ण औषधियाँ तथा मधुरादि षड्विध रस उत्पन्न हो रहे हैं। जिस रस से भूतों से परिवेष्टित हुआ यह अन्तरात्मा स्थित होता है ॥९॥ यह सारा जगत् अग्निहोत्रादि रूप कर्म ज्ञानरूप तप पुरुष स्वरूप ही है। यह सब परामृत स्वरूप ब्रह्म ही है। उसे जो सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित जानता है। हे प्रियदर्शन ! वह इस विज्ञान के द्वारा इस लोक में जीते जी अविद्या ग्रन्थि का छेदन कर डालता है ॥१०॥

॥ इति द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥

अतः पुरुषात्समुद्राः सर्वे [1]क्षाराद्याः। गिरयश्च हिमवदादयोऽस्मादेव पुरुषात्सर्वे। स्यन्दन्ते स्रवन्ति गङ्गाद्याः सिन्धवो नद्यः सर्वरूपा बहुरूपाः। अस्मादेव पुरुषात्सर्वा ओषधयो व्रीहियवाद्याः। रसश्च मधुरादिः षड्विधो येन [2]रसेन भूतैः पञ्चभिः स्थूलैः परिवेष्टितस्तिष्ठते तिष्ठति ह्यन्तरात्मा लिङ्गं सूक्ष्मं शरीरम्। तद्ध्यन्तराले शरीरस्याऽऽत्मनश्चा[3]ऽऽत्मवद्वर्तत इत्यन्तरात्मा ॥९॥

एवं पुरुषात्सर्वमिदं सम्प्रसूतम्। अतो वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतं पुरुष इत्येव सत्यम्। अतः पुरुष एवेदं विश्वं सर्वम्। न विश्वं नाम पुरुषादन्यत्किञ्चिदस्ति। अतो यदुक्तं तदेतदभिहितं कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति। एतस्मिन्हि परस्मिन्नात्मनि सर्वकारणे पुरुषे विज्ञाते पुरुष एवेदं विश्वं नान्यदस्तीति विज्ञातं भवतीति। किं पुनरिदं विश्वमित्युच्यते। कर्माग्निहोत्रादिलक्षणम्। तपो ज्ञानं तत्कृतं

यत्पृष्टं कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति तन्निरूपितम्। सर्वमिदं परमात्मनो

ब्रह्म के कार्य हैं। अतः ब्रह्मस्वरूप ही हैं। वह ब्रह्म परम अमृतरूप है, वही मैं हूँ। इस प्रकार जो सभी प्राणियों के हृदय में स्थित ब्रह्म को जान लेता है, वह ऐसे विज्ञान से वासना के सहित अत्यन्त दृढ़ ग्रन्थि की भाँति प्रतीत होनेवाली अविद्या ग्रन्थि को जीवन काल में ही नाश कर डालता है; न कि मरने पर। हे प्रियदर्शन ! ब्रह्मज्ञान का फल सद्योमुक्ति है, जो इस तत्त्ववेत्ता को जीते जी प्राप्त हो जाता है ॥१०॥

---

१. क्षाराद्या इति क्षीरोदकेक्षुरसोदकघृतोदकदध्युदकशुद्धोदकसुरोदका इति सप्तसागराः—तत्र क्षारोदः प्रसिद्ध एव-सुरोदश्चेक्षुरसोदानन्तरं द्रष्टव्यः। २. रसेन पोषितैरित्यर्थः। ३. आत्मवदिति तादात्म्याध्यासादिति भावः।

आविः संनिहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैत-
त्समर्पितम् । एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ
सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥१॥

[यह प्रकाशमान् ब्रह्म सबके हृदय में सम्यक् प्रकार से स्थित है। वह श्रवणादि द्वारा बुद्धिरूपी गुफा में उपलब्ध होने के कारण गुहाचर नाम वाला और सबसे बड़े होने के कारण महत् पद है। इसी में चलने-फिरने वाले पक्षी आदि, प्राणन करने वाले मनुष्यादि एवं निमेष-उन्मेष आदि क्रियावाले ये सभी जीव समर्पित हैं। तुम इसे सदसत् स्वरूप, सबका प्रार्थनीय, प्रजाओं के विज्ञान से परे और सभी श्रेष्ठ पदार्थों में भी श्रेष्ठ जानो ॥१॥]

फलमन्यदेतावद्धीदं सर्वम् । तच्चैतद्ब्रह्मणः कार्यं तस्मात्सर्वं ब्रह्म परामृतं परममृतमह-मेवेति यो वेद निहितं स्थितं गुहायां हृदि सर्वप्राणिनां स एवं विज्ञानादविद्याग्रन्थिं ग्रन्थिमिव दृढीभूतामविद्यावासनां विकिरति विक्षिपति नाशयतीह जीवन्नेव न मृतः सन्हे सोम्य प्रियदर्शन ॥१०॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥१॥

अरूपं सदक्षरं केन प्रकारेण विज्ञेयमित्युच्यते । आविः प्रकाशं संनिहितं [1]वागाद्युपाधिभिर्ज्वलति भ्राजतीति श्रुत्यन्तराच्छब्दादीनुपलभमानवदवभासते । दर्शनश्रवणमनन-विज्ञानाद्युपाधिधर्मैराविर्भूतं सल्लक्ष्यते हृदि सर्वप्राणिनाम् । यदेतदाविर्ब्रह्म संनिहितं

जायते । अतस्तावन्मात्रं सर्वं तस्मिन्विज्ञाते विज्ञातं भवतीत्य[2]विद्याक्षयफलाभिधानेनोपसंहृत-मिति ॥९॥१०॥

इति मुण्डकोपनिषद्भाष्यटीकायां द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥१॥

अधुना यस्य सकृदुपदेशमात्रेणाद्वितीयं ब्रह्मास्मीतिवाक्यार्थज्ञानं न भवतीति तस्योपायानुष्ठानेन भवितव्यमित्यभिप्रेत्याऽऽह—अरूपं सदक्षरमिति । वाक्यार्थस्यैव पुनः पुनर्भावना युक्त्यनुसंधानं चोपाय इत्याह—उच्यत इति । आविःशब्दो निपातः प्रकाशवाची । ब्रह्म विश्वोपलब्ध्यात्मना प्रकाशमानमेव सदेति भावयेदित्यर्थः । अन्यैरप्युक्तम्—

"यदस्ति यद्भाति तदात्मरूपं नान्यत्ततो भाति न चान्यदस्ति ।
स्वभावसंवित्प्रतिभाति केवलं ग्राह्यं ग्रहीतेति मृषैव कल्पना" इति ।

संनिहितमिति । सर्वेषां प्राणिनां हृदये स्थितं वागाद्युपाधिभिः शब्दादीन्युपलभमानवद्ब्रह्मैव

---

१. तस्य संनिहितत्वं प्रत्याययति—वागादीत्यादीना ।

२. ननु नैतत्कण्ठरवेणोक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—अविद्याक्षयेति । अविद्या हि सर्वविज्ञाने प्रतिबन्धिका तन्निवृत्तिश्च पुरुष-विज्ञाने नोक्ता सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीति ततश्चात्मज्ञानेन सर्वज्ञानमुक्तं भवतीति भावः । ३. वि० पु० ।

सम्यक्स्थितं हृदि तद्गुहाचरं नाम गुहायां चरतीति [1]दर्शनश्रवणादिप्रकारैर्गुहाचरमिति प्रख्यातम् । महत्सर्वमहत्त्वात्पदं पद्यते सर्वेणेति सर्वपदार्थास्पदत्वात् । कथं तन्महत्पदमित्युच्यते । यतोऽत्रास्मिन्ब्रह्मण्येतत्सर्वं समर्पितं प्रवेशितं रथनाभाविवारा एजच्चलत्पक्ष्यादि । प्राणात्प्राणितीति प्राणापानादिमन्मनुष्यपश्वादि । निमिषच्च यन्निमेषादिक्रियावद्यच्चानिमिषच्चशब्दात्समस्तमेतदत्रैव ब्रह्मणि समर्पितम् । एतद्यदास्पदं सर्वं जानथ हे शिष्या [2]अवगच्छथ तदात्मभूतं भवतां सदसत्स्वरूपम् । सदसतोर्मूर्तामूर्तयोः स्थूलसूक्ष्मयोस्तद्व्यतिरेकेणाभावात् । वरेण्यं वरणीयं तदेव हि सर्वस्य नित्यत्वात्प्रार्थनीयं परं व्यतिरिक्तं विज्ञानात्प्रजानामिति व्यवहितेन सम्बन्धो यल्लौकिकविज्ञानागोचरमित्यर्थः यद्वरिष्ठं वरतमं सर्वपदार्थेषु वरेषु तद्ध्येकं ब्रह्मातिशयेन वरं सर्वदोषरहितत्वात् ॥१॥

जीवभावपन्नमवभासते । ततः स्वतोऽपरोक्षं चेति सदा स्मरेदित्यर्थः । सर्वमिदं कार्यं परिच्छिन्नं च सास्पदं कार्यत्वात्परिच्छिन्नत्वाच्च घटादिवत्ततः सर्वास्पदं यत्तदेव [3]मायास्पदमात्मभूतमिति युक्त्यनुसधानमाह—महत्पदमिति ॥१॥

❁ द्वितीय मुण्डक द्वितीय खण्ड ❁

रूपरहित सत् अक्षर ब्रह्म किस उपाय से जाना जायेगा ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि पुनः-पुनः महावाक्य के अर्थ की भावना और युक्तिपूर्वक महावाक्वार्थ चिंतन से ही ब्रह्म का साक्षात्कार होता है । वह ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् की उपलब्धि रूप से प्रकाशमान् और सत् है ऐसी भावना करे । वाणी आदि उपाधियों से वह प्रज्वलित होता है । अतएव दूसरी श्रुति भी कहती है कि—वह ब्रह्म शब्दादि विषयों का प्रकाश करता हुआ-सा अवभासित होता है । सभी प्राणियों के हृदय में दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान आदि उपाधि रूप धर्म से प्रकाशमान् होता हुआ लक्षित होता है । ऐसा जो ब्रह्म है, वह सन्निहित यानी सम्यक् प्रकार से स्थित है । हृदयरूप गुहा में विचरता है । इसीलिये उसे गुहाचर कहते हैं । दर्शन सवणादि प्रकार के द्वारा बुद्धिरूपी गुफा में विचरण करने के कारण भी गुहाचर कहते हैं, सबसे महान् होने के कारण उसे महत् और सभी से प्राप्त किया जाता है, इसलिये पद कहते हैं । क्योंकि सब पदार्थों का आश्रय वही तो है । वह ब्रह्म महत्पद कैसे हो गया ? इस पर कहते हैं क्योंकि इस ब्रह्म में सब कुछ रथ की नेमि में समर्पित अरे की भाँति समर्पित है । जो ये चलनादि क्रिया करने वाले पक्षी आदि हैं, "प्राणान् अपानन्" आदि क्रियाशील मनुष्य पश्वादि हैं एवं निमेष-उन्मेष आदि क्रियावाले हैं या उक्तक्रिया से शून्य हैं; समस्त वस्तु इस ब्रह्म में ही र्सापत है । इस जगत् का जो आश्रय है, उसे जानो । हे शिष्य ! अपने आत्मस्वरूप सत् एवं असत् रूप ब्रह्म को जानो । मूर्त्त एवं स्थूल को सत् तथा अमूर्त्त एवं सूक्ष्म को असत् कहते हैं । इनसे भिन्न वस्तु तो होती ही नहीं । अतः ब्रह्म मूर्तामूर्त उभय रूप है । नित्य होने के कारण सभी के द्वारा वही ब्रह्म प्रार्थनीय है । प्रजा के सम्पूर्ण लौकिक विषय के विज्ञान से वह भिन्न है, वर्णन करने योग्य सम्पूर्ण पदार्थों में जो वरिष्ठ यानी श्रेष्ठ है वही एक सबसे श्रेष्ठ वर है क्योंकि उसमें कोई दोष नहीं है ॥१॥

---

१. स्थिरस्य चरणं कुतोऽत्र आह—दर्शनेत्यादि । क्वचित्पश्यतीते क्वचिच्छृणोतीत्येवं दर्शनादि तत्तद्व्यापारानुकूलतयाऽवस्थानमेव तत्र चरणमिति भावः । २. अवगच्छथेति—अवगच्छतेत्यर्थः । ३. मायास्पदमिति मायायाः कार्यत्वाभावेऽपि परिच्छिन्नत्वहेतुना तदास्पदत्वमिति बोध्यम् ।

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च। तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः । तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ॥२॥

[सूर्यादि के प्रकाशक होने से जो दीप्तिमान् और सूक्ष्मातिसूक्ष्म है तथा जिसमें सम्पूर्णलोक और उनके निवासी मनुष्यादि स्थित है, वही यह सबका आश्रय भूत अक्षर ब्रह्म है । वही प्राण है, तथा वही वाणी और मन है, वही यह सदा एक रस रहने से सत्य और अमृत है । हे सोम्य ! उसे समाहित मन से वेधना चाहिये । अतः तू उसका वेधन कर ॥२॥]

किञ्च यदर्चिमद्दीप्तिमत्तद्दीप्त्याऽऽदित्यादि दीप्यत इति दीप्तिमद्ब्रह्म । किञ्च यदणुभ्यः श्यामाकादिभ्योऽप्यणु च सूक्ष्मम् । चशब्दात्स्थूलेभ्योऽप्यतिशयेन स्थूलं पृथिव्यादिभ्यः । यस्मिँल्लोका भूरादयो निहिताः स्थिताः । ये च लोकिनो लोकनिवासिनो मनुष्यादयश्चैतन्याश्रया हि सर्वे प्रसिद्धास्तदेतत्सर्वाश्रयमक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनो वाक्च मनश्च सर्वाणि च करणानि तदन्तश्चैतन्यं चैतन्याश्रयो हि प्राणेन्द्रियादिसर्वसंघातः "प्राणस्य प्राणम्" इति श्रुत्यन्तरात् । यत्प्राणादीनामन्तश्चैतन्यमक्षरं तदेतत्सत्यमवितथमतोऽमृतमविनाशि तद्वेद्धव्यं मनसा ताडयितव्यम् । तस्मिन्मनःसमाधानं कर्तव्यमित्यर्थ । यस्मादेवं हे सोम्य विद्ध्यक्षरे चेतः समाधत्स्व ॥२॥

घटादिवदादित्यादेर्जडत्वेऽपि यद्दीप्तिमत्त्वं वैचित्र्यं तदनुपपत्त्याऽपि तत्कारणं संभावनीयमित्याह—किंच यदर्चिमदिति । 'अर्चिमत्त्वादादित्यादिवदिन्द्रियग्राह्यत्वं प्राप्तं निषेधति—यदुणुभ्य इति । परमाणुपरिमाणत्वं तर्हि स्यादिति माऽऽशङ्कनीयमित्याह—चशब्दादिति । स्थूलत्वात्तर्ह्यन्याधारं स्यादिति नाऽऽशङ्कनीयमित्याह—यस्मिँल्लोका इति । प्राणादिप्रवृत्तिश्चेतनाधिष्ठाननिबन्धना जडप्रवृत्तित्वाद्रथादिप्रवृत्तिवच्चिद्भेदे च प्रमाणाभावादेकचैतन्यमात्रमस्मीति विचारयेदित्याह—तदेतत्सर्वाश्रयमिति । प्राणाद्यधिष्ठानत्वात्प्राणादिलक्ष्य² आत्मा द्रष्टव्यः ॥२॥

आदित्यादि में, जो दीप्तियाँ दीखती हैं, वह जिसकी हैं; ऐसा दीप्तिमान् पदार्थ ब्रह्म है । कार्य में दीप्ति देखकर कारण में दीप्ति का अनुमान किया जाता है, क्योंकि कारण में यदि दीप्ति न हो तो कार्य में कहाँ से आयेगी ! इसलिये आदित्यादि में दीप्ति उस ब्रह्म से ही आती है । अतः ब्रह्म दीप्तिमान् है । फिर भी इन्द्रियग्राह्य नहीं है, क्योंकि श्यामाक आदि अतिसूक्ष्म धान्य से भी वह सूक्ष्म है, वैसे ही पृथ्वी आदि स्थूल पदार्थों से भी अत्यन्त स्थूल वह ब्रह्म है । इस स्थूलतमत्व का संकेत 'चकार' से श्रुति कर रही है । जिस ब्रह्म में भूः आदि चतुर्दश लोक स्थित हैं, और जो इन लोकों में निवास करने वाले मनुष्यादि हैं; वे सब चैतन्य के आश्रित ही प्रसिद्ध हैं । इस प्रकार सबका आश्रय अविनाशी ब्रह्म है । वही ब्रह्म इस शरीर में प्राण, वाणी और मनरूप है । 'किं बहुना' सम्पूर्ण करण और करण के आश्रयकता जीव उस चैतन्य ब्रह्म के आश्रित ही हैं । इस प्रकार प्राण, इन्द्रिय, सर्व संघातवाला वह चैतन्य परमात्मा है । इसीलिये दूसरी श्रुति ने उसे प्राणों का प्राण कहा है । जो प्राणादिकों के भीतर अविनाशी नित्य चेतन है; वही यह सत्य यानी अवितथ है । इसीलिये वह अविनाशी है । ऐसा समझकर

---

१. अर्चिमत्त्वादिति टीकाप्रयोगादिकारान्तोऽप्यर्चिशब्दोऽनुमातव्यः । २. लक्षणया बोध्य इत्यर्थः ।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं संधयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥३॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥४॥

[हे सोम्य ! उपनिषद् वेध, महान्-अस्त्र रूप शरासन को लेकर उस पर उपासना से तीक्ष्ण किये हुए मनरूपी बाण को चढ़ाओ और फिर इन्द्रियों के सहित अन्तःकरण को विषयों की तरफ से लौटाकर ब्रह्मभावानुगत चित्त से अपने लक्ष्य उसी अक्षर ब्रह्म का वेधन करो ॥३॥ ओंकार धनुष है, सोपाधिक आत्मा बाण है, और अक्षर ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा गया है, बड़ी सावधानी से उस लक्ष्य का वेधन करना चाहिये और (वेधन करने के अनन्तर) बाण के समान ही लक्ष्य के साथ तन्मय हो जाना चाहिये ॥४॥]

कथं वेद्धव्यमित्युच्यते। धनुरिष्वासनं गृहीत्वाऽऽदायौपनिषदमुपनिषत्सु भवं प्रसिद्धं महास्त्रं महच्च तदस्त्रं च महास्त्रं धनुस्तस्मिञ्शरम्। किंविशिष्टमित्याह। उपासानिशितं सन्तताभिध्यानेन तनूकृतं संस्कृतमित्येतत्। संधयीत संधानं कुर्यात्। संधाय चाऽऽयम्याकृऽऽष्य सेन्द्रियमन्तःकरणं स्वविषयाद्विनिवर्त्य लक्ष्य एवाऽऽवर्जितं[1] कृत्वेत्यर्थः। न हि हस्तेनेव धनुष आयमनमिह सम्भवति। तद्भावगतेन तस्मिन्ब्रह्मण्यक्षरे लक्ष्ये भावना भावस्तद्गतेन चेतसा लक्ष्यं तदेव यथोक्तलक्षणमक्षरं सोम्य विद्धि ॥३॥

यदुक्तं धनुरादि तदुच्यते। प्रणव ओंकारो धनुः। यथेष्वासनं लक्ष्ये शरस्य प्रवेशकारणं तथाऽऽत्मशरस्याक्षरे लक्ष्ये प्रवेशकारणमोंकारः। प्रणवेन ह्यभ्यस्यमानेन संस्क्रियमाणस्तदालम्बनोऽप्रतिबन्धेनाक्षरेऽवतिष्ठते यथा धनुषाऽऽस्त इषुर्लक्ष्ये। अतः प्रणवो

विचारासमर्थस्य प्रणवमवलम्ब्य ब्रह्मात्मैकत्वे चित्तसमाधानं क्रममुक्तिफलं दर्शयितुमुपक्रमते— कथं वेद्धव्यमित्यादिना। प्रणवो ब्रह्मेत्यभिध्यायत उपसंहृतकरणग्रामस्य प्रणवोपरक्तं यच्चैतन्यप्रतिबिम्बं स्फुरति स आत्मेत्यनुसंधानं प्रणवे शरसंधानं तस्य चित्प्रतिबिम्बस्य बिम्बैक्यानुसंधानं लक्ष्यवेधः ॥३॥४॥

मन से वह ताड़ने योग्य है अर्थात् उसमें मन को समाहित करना चाहिये। हे सोम्य ! जबकि ऐसी बात है, इसीलिये उस अक्षर ब्रह्म में तू अपने चित्त को समाहित कर ॥२॥

उस अक्षर ब्रह्म का वेधन किस प्रकार करना चाहिए ? इसका उत्तर देते हैं—उपनिषदों में प्रसिद्ध प्रणव को—औपनिषद कहते हैं। वह प्रणव महान् अस्त्र धनुष के सदृश है। ऐसे महास्त्र धनुष के ऊपर सतत ध्यान रूप उपासना के द्वारा अत्यन्त संस्कृत मन को तीक्ष्ण बाण के समान कहा गया है। ऐसे बाण का संधान करो अर्थात् अपने विषय से इन्द्रिय-सहित अन्तःकरण को लौटाकर लक्ष्य

---

१. आवर्जितमभिमुखं प्रवणमिति यावत्।

धनुरिव धनुः। शरो ह्यात्मोपाधिलक्षणः पर एव जले सूर्यादिवदिह प्रविष्टो देहे सर्वबौद्धप्रत्ययसाक्षितया स शर इव स्वात्मन्येवार्पितोऽक्षरे ब्रह्मण्यतो ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते लक्ष्य इव मनःसमाधित्सुभिरात्मभावेन लक्ष्यमाणत्वात्। तत्रैवं सत्यप्रमत्तेन बाह्यविषयोपलब्धितृष्णाप्रमादवर्जितेन सर्वतो विरक्तेन जितेन्द्रियेणैकाग्रचित्तेन वेद्धव्यं ब्रह्म लक्ष्यम्। ततस्तद्वेधनादूर्ध्वं शरवत्तन्मयो भवेत्। यथा शरस्य लक्ष्यैकात्मत्वं फलं भवति। तथा देहाद्यात्मप्रत्ययतिरस्करणेनाक्षरैकात्मत्वं फलमापादयेदित्यर्थः ॥४॥

की ओर ही लगाओ। हाथ से धनुष को खींचने के समान यहाँ पर मन का खींचना नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार विषयों से लौटाये हुए और अपने लक्ष्य ब्रह्म में स्थिर किये हुए अन्तःकरण से उस लक्ष्य का ही वेधन करो। हे सोम्य! जिसका की लक्षण पहले हमने बतलाया और जिसे अक्षर ब्रह्म कहा गया है ॥३॥

जो धनुः आदि प्रथम मन्त्र में कहे गये हैं, उन्हें इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से बतलाते हैं। प्रणव यानी ओंकार धनुष है। जैसे बाण को लक्ष्य में प्रवेश कराने का कारण धनुष ही होता है, वैसे ही आत्मा रूप बाण को अक्षर ब्रह्म रूप लक्ष्य में प्रवेश कराने का कारण ओंकार ही है, क्योंकि बार-बार अभ्यास किये गये प्रणव के द्वारा आत्मा में संस्कार होता है। वह संस्कारयुक्त आत्मा निर्विघ्न रूप से अक्षर ब्रह्म में अवस्थित हो जाता है। जैसे धनुष के द्वारा फेंका हुआ बाण लक्ष्य में प्रविष्ट हो जाता है। इसलिये धनुष की भाँति कार्य करनेवाला होने के कारण प्रणव को धनुष कह दिया गया है। एवं अन्तःकरण उपाधि से युक्त परमात्मा ही जीव कहा गया है और वह बाण स्थानीय है। जैसे जल में प्रतिबिम्ब भाव से सूर्य का प्रवेश होता है, वैसे ही इस देह में सम्पूर्ण बुद्धिवृत्तियों के साक्षी रूप से परमात्मा का प्रवेश हुआ है, ऐसा सोपाधिक आत्मा बाण के समान कहा गया है। जिस प्रकार लक्ष्य में बाण का प्रवेश होता है; वैसे ही स्वात्मरूप अक्षर ब्रह्म में सोपाधिक आत्मा का समर्पण होता है। अतः वह ब्रह्म लक्ष्य कहा गया है क्योंकि मन समाहित करने की इच्छावाले पुरुष आत्मभाव से उस शुद्ध ब्रह्म को ही लक्षित करते रहते हैं। अतः ब्रह्म लक्ष्य की भाँति होने के कारण लक्ष्य कहा गया है। इस प्रकार साधन-सामग्री के उपलब्ध हो जाने पर बाह्य विषयों की उपलब्धि और उनकी तृष्णारूप प्रमाद का परित्याग कर सभी विषयों से विरक्त, विजित इन्द्रिय एवं एकाग्रचित्त से ब्रह्मरूप लक्ष्य का वेधन करना चाहिये; प्रमाद नहीं करना चाहिये। यहाँ पर बाह्य विषयों के ज्ञान और तृष्णा को प्रमाद शब्द से कहा गया है। लक्ष्य से भिन्न वस्तु का दर्शन एवं आकांक्षा होने पर लक्ष्य का वेधन नहीं होता ऐसे ही शुद्ध ब्रह्मरूप लक्ष्य से भिन्न वस्तु दीखती हो या उसकी तृष्णा हो तो इस प्रमाद से साधक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता है। किन्तु लक्ष्य से दूर हट जायेगा। इस प्रमाद के परित्याग के लिये मन और इन्द्रियों के ऊपर विजय करके विषयों से वैराग्य होना अत्यन्त आवश्यक है। राग ही प्रमाद है; जोकि मृत्यु का कारण है। राग का सर्वथा परित्याग रूप वैराग्य नित्य जीवन-प्रदान करनेवाला होता है। अतः प्रमाद का परित्याग अत्यावश्यक है।

इस प्रकार शुद्ध ब्रह्मरूप लक्ष्य वेधन के बाद उसमें तन्निष्ठ हो जाना वैसे ही आवश्यक है,

---

१. उपाधिलक्षणः—उपाधिना लक्ष्यते परस्माद् व्यावृत्त इव भास्यत इति।

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥५॥

[हे शिष्यगण ! जिस अक्षर पुरुष में द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और सम्पूर्ण इन्द्रियों के सहित मन समर्पित है; उसी अद्वितीय आत्मा को जानो और अन्य बातों को छोड़ दो, क्योंकि यही मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र साधन है ॥५॥]

अक्षरस्यैव दुर्लक्ष्यत्वात्पुनः पुनर्वचनं सुलक्षणार्थम् । यस्मिन्नक्षरे पुरुषे द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षं चोतं समर्पितं मनश्च सह प्राणैः करणैरन्यैः सर्वैस्तमेव सर्वाश्रयमेकमद्वितीयं जानथ जानीथ हे शिष्याः । आत्मानं प्रत्यक्स्वरूपं युष्माकं सर्वप्राणिनां च ज्ञात्वा चान्या वाचोऽपरविद्यारूपा विमुञ्चथ विमुञ्चत परित्यजत । तत्प्रकाश्यं च सर्वं कर्म ससाधनम् । यतोऽमृतस्यैष सेतुरेतदात्मज्ञानममृतस्यामृतत्वस्य मोक्षस्य प्राप्तये सेतुरिव सेतुः संसार-महोदधेरुत्तरणहेतुत्वात् । तथा च श्रुत्यन्तरम्—"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इति ॥५॥

उत्तरग्रन्थस्य पौनरुक्त्यं परिहरति—अक्षरस्यैव दुर्लक्ष्यत्वादिति । ससाधनं सर्वं कर्म परित्यज्याऽऽत्मैव ज्ञातव्य इत्यत्रैव हेतुमाह—अमृतस्येति । [2]धनुषाऽऽयुधेन लक्ष्यत इति तल्लक्षण आत्मैकत्वसाक्षात्कार इत्यर्थः ॥५॥

जैसे बाण लक्ष्य में प्रवेश करके लक्ष्य-निष्ठ हो जाता है । जैसे लक्ष्य के साथ एक ही भावरूप फल को प्राप्त करना बाण का काम है, वैसे ही शरीर आदि में अहंभाव का परित्याग कर शुद्ध चैतन्य अक्षर ब्रह्म के साथ अभेद-स्थिति रूप फल को प्राप्त करलेना चाहिए, यही इस मन्त्र का अभिप्राय है । प्रणव बह्म है, इस प्रकार ध्यान करने वाले समाहितचित्त-पुरुष को प्रणव से उपरोक्त जो चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है कि वह आत्मा है; यही प्रणव धनुष के ऊपर आत्मरूप-बाण का संधान करना है, और चित्प्रतिबिम्ब का बिम्ब के साथ ऐक्यानुसंधान है, यही लक्ष्य वेध है ॥४॥

अक्षर ब्रह्म ही दुर्लक्ष्य है । इसीलिये उसका बार-बार लक्ष्य करते हैं । और उसे जानने के लिये प्रेरणा भी श्रुति करती । जिस अक्षर पुरुष में द्युलोक पृथिवी और अन्तरिक्ष ओतप्रोत हैं वैसे ही सम्पूर्ण इन्द्रियों के सहित मन भी रस्सी में सर्प की भाँति समर्पित है । उस सम्पूर्ण विश्व कल्पना का अधिष्ठान एक अद्वितीय परमात्मा को जानो । हे शिष्य ! तुम्हारे एवं सभी प्राणियों के प्रत्यक् स्वरूप आत्मा को ही जानो । अपराविद्या के विषय अविद्या-विलासरूप अन्य शब्द जाल का परित्याग कर दो क्योंकि उनसे जिन चीजों का प्रकाश होता है, वे साधन के सहित सब कर्म ही तो हैं । कर्म का फल अनित्य होता है । इसलिये साधन सहित कर्म का परित्याग मोक्षाभिलाषी के लिये आवश्यक है । यह आत्मज्ञान मोक्षरूप अमरत्व की प्राप्ति के लिये सेतु के समान है, जैसे बड़े-बड़े नदी-नालों को पुल के सहारे सभी जीव सरलता से पार कर जाते हैं; ऐसे ही संसार रूपी भयावह महासमुद्र को आत्मज्ञान रूप सहारे से सभी जीव पार कर सकते हैं । अतः संसार समुद्र से तरने के

---

१. अन्यत्वं प्रत्यासत्त्या परविद्याप्रतियोगिकमित्याशयेन व्याचष्टे—अपरविद्यारूपा इति । २. अत्र धनुषेत्यादिरियं पङ्क्तिर्लेखकप्रमादं गमयति ।

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः । ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥६॥

[जिस प्रकार रथचक्र की नाभि में अरे सम्मिलित रहते हैं, वैसे ही शरीर में सर्वत्र व्याप्त सम्पूर्ण नाड़ियाँ जिसमें एकत्रित हैं, उस हृदय के भीतर दर्शन-श्रवणादि जन्य अनेक बुद्धिवृत्तियाँ सञ्चार करती हैं । उन बुद्धिवृत्तियों के साक्षीभूत आत्मा का 'ॐ' इस प्रकार ध्यान करो । अज्ञान के उस पार जाने से तुम्हारा कल्याण हो, अर्थात् कल्याण प्राप्ति में किसी प्रकार की विघ्न बाधा न हो ॥६॥]

किञ्चाऽरा इव । यथा रथनाभौ समर्पिता अरा एवं संहताः सम्प्रविष्टा यत्र यस्मिन्हृदये सर्वतो देहव्यापिन्यो नाड्यस्तस्मिन्हृदये बुद्धिप्रत्ययसाक्षिभूतः स एष प्रकृत आत्माऽन्तर्मध्ये चरते चरति वर्तते । पश्यञ्शृण्वन्मन्वानो विजानन्बहुधाऽनेकधा क्रोधहर्षादिप्रत्ययैर्जायमान इव जायमानोऽन्तःकरणोपाध्यनुविधायित्वाद्वदन्ति लौकिका हृष्टो जातः क्रुद्धो जात इति । तमात्मानमोमित्येवमोंकारालम्बनाः सन्तो [1]यथोक्तकल्पनया ध्यायथ चिन्तयत । उक्तं वक्तव्यं च शिष्येभ्य आचार्येण जानता । शिष्याश्च ब्रह्मविद्याविविदिषुत्वान्निवृत्तकर्माणो मोक्षपथे प्रवृत्ताः । तेषां निर्विघ्नतया ब्रह्मप्राप्तिमाशास्त्याचार्यः । स्वस्ति [2]निर्विघ्नमस्तु वो युष्माकं पाराय [3]परकूलाय परस्तात्[4] कस्माद्[5] विद्यातमसः । [6]अविद्यारहितब्रह्मात्मस्वरूपगमनायेत्यर्थः ॥६॥

कर्मसङ्गिजनसङ्गत्या कर्मश्रद्धा विषयश्रद्धा च वाक्यार्थज्ञानस्यावगमाय गत्यन्ततायाः प्रतिबन्धको विघ्नः स मा भूदित्याशंसनं, [7]ननु वाक्यार्थावगतौ निष्पन्नायां फलप्राप्तेर्विघ्नशङ्काऽस्तीत्यभिप्रेत्याऽऽह—परस्तादिति । [8]मदुपदेशादूर्ध्वमित्यर्थः ॥६॥

साधन होने से आत्मज्ञान को तथा आत्मा को भी सेतु कहा गया है । ऐसे ही दूसरी श्रुति भी कहती है । "उस परमात्मा को ही जानकर ही मृत्यु से छूट सकता है।" "आत्मज्ञान को छोड़ कर अन्य कोई भी साधन मोक्ष प्राप्त करने के लिये नहीं है" इत्यादि ॥५॥

जैसे रथ की नाभि में अरे जुड़े होते हैं, वैसे ही जिस हृदय में देह-व्यापी नाड़ियाँ सभी ओर से जुड़ी हुई हैं, उस हृदय में बुद्धि वृत्ति के साक्षी रूप यह प्रकृत आत्मा मध्य विचर रहा है । सुनता हुआ, देखता हुआ, मनन करता हुआ, जानता हुआ, अनेक प्रकार की क्रोध-हर्ष आदि बुद्धि वृत्तियों के कारण जायमान-सा प्रतीत होता है क्योंकि अन्तःकरणरूप उपाधि के अनुरूप ही उपहित आत्मा के

---

१. यथोक्तकल्पनया धनुरादिकल्पनयेत्यर्थः । २. निर्विघ्नं विघ्नाभावः । ३. परतीरप्राप्तय इति यावत् । ४. किंप्रयुक्तविघ्नस्याभाव इति पृच्छति—कस्मादिति । ५. उत्तरमाह—अविद्येति । अविद्या तमःप्रयुक्तस्येति टीकानुसार्यर्थः । ६. तमसः परस्तादित्यन्वयाभिप्रायेण वाक्यार्थमाह—अविद्यारहितेत्यादिना । ७. विदुषः कर्तव्याभावमावेदयितुं परस्तादित्यवतारयति-नन्वित्यादिना । ८. मदुपदेशादूर्ध्वमिति-मदुपदेशजन्यज्ञानस्यावगतिपर्यन्ततायाः प्रागिति यावत् ।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योमन्यात्मा प्रतिष्ठितः । मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥७॥

[जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है और जिसकी यह प्रसिद्ध विभूति भूलोक में स्थित है वह यह आत्मा दिव्य ब्रह्मपुर हृदयाकाश में विद्यमान है। वह मनोमय तथा प्राण और सूक्ष्म शरीर को एक स्थूल देह से दूसरे स्थूल देह में ले जाने वाला पुरुष हृदय में रहकर अन्नमय शरीर में स्थित है। उसका अनुभव हो जानेपर ही तत्त्वज्ञानी पुरुष उस तत्त्व का सम्यक् साक्षात्कार कर लेते हैं। जो कि सम्पूर्ण अनर्थ दुःखादि से रहित आनन्द स्वरूप अमृत ब्रह्मतत्त्व प्रकाशित हो रहा है ॥७॥

योऽसौ तमसः परस्तात्संसारमहोदधिं तीर्त्वा गन्तव्यः परविद्याविषयः स कस्मिन्वर्तत इत्याह—यः सर्वज्ञः सर्वविद्व्याख्यातः। तं पुनर्विशिनष्टि। यस्यैष प्रसिद्धो महिमा विभूतिः कोऽसौ महिमा। यस्येमे द्यावापृथिव्यौ शासने [1]विधृते तिष्ठतः। सूर्याचन्द्रमसौ यस्य शासनेऽलातचक्रवदजस्रं भ्रमतः। यस्य शासने सरितः सागराश्च स्वगोचरं नातिक्रामन्ति। तथा स्थावरं जङ्गमं च यस्य शासने नियतम्। तथा चर्तवोऽयने अब्दाश्च यस्य शासनं नातिक्रामन्ति। तथा कर्तारः कर्माणि फलं च यच्छासनात्स्वं स्वं कालं नातिवर्तन्ते स एष महिमा भुवि लोके यस्य स एष सर्वज्ञ एवंमहिमा देवः। दिव्ये द्योतनवति सर्वबौद्धप्रत्ययकृतद्योतने ब्रह्मपुरे। ब्रह्मणोऽत्र चैतन्यस्वरूपेण नित्याभिव्यक्तत्वाद्ब्रह्मणः पुरं हृदयपुण्डरीकं तस्मिन्यद्व्योम तस्मिन्व्योम्न्याकाशे हृत्पुण्डरीकमध्यस्थे प्रतिष्ठित इवोपलभ्यते। न ह्याकाशवत्सर्वगतस्य गतिरागतिः प्रतिष्ठा वाऽन्यथा सम्भवति। स ह्यात्मा तत्रस्थो

सर्वेश्वरत्वमनोमयत्वादिगुणविशिष्टब्रह्मणो हृदयपुण्डरीके ध्यानं च क्रममुक्तिफलं मन्दब्रह्मविदो विधीयत इति दर्शयितुमाह—योऽसौ तमसः परस्तादित्यादिना ॥७॥

सम्बन्ध में लौकिक पुरुष कहते हैं कि यह प्रसन्न हो गया, यह क्रुद्ध हो गया इत्यादि। उसी आत्मा को 'ॐ' इस ओंकार का आलम्बन लेते हुए पूर्वोक्त मन्त्रों में बतलायी गयी रीति से ध्यान करो। इस प्रकार तत्वज्ञानी आचार्य शिष्य को उपदेश करें। ब्रह्मविद्या के जिज्ञासु होने से शिष्य साधन सहित सभी कर्मों का परित्याग कर मोक्षमार्ग वेदान्त-श्रवणादि में प्रवृत्त होवे ऐसे साधक के लिए निर्विघ्नरूप से ब्रह्म प्राप्ति का आदेश आचार्य करते हैं और आशीर्वाद भी देते हैं। संसार-सागर के उस पार जाने के लिए तुम्हारा कल्याण हो अर्थात् कोई विघ्न बाधा न आवे। किसके पार जाने के लिये? इस प्रश्न का उत्तर श्रुति देती है—अनादि अनिर्वचनीय अविद्या से पार जाने के लिए अर्थात् अविद्या उपाधि से रहित विशुद्ध चैतन्य स्वरूप का बोध तुझे निर्विघ्न रूप से हो जावे—ऐसी हमारी मंगल कामना है। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के मुख से वेदान्त तत्त्व का अभ्यास कर जीते जी शाश्वत शान्ति रूप मोक्ष को प्राप्त कर लो ॥६॥

---

१. विधृते=नियमिते।

[1]मनोवृत्तिभिरेव विभाव्यत इति मनोमयो मनउपाधित्वात्प्राणशरीरनेता [2]प्राणश्च शरीरं च प्राणशरीरं तस्यायं नेता स्थूलाच्छरीराच्छरीरान्तरं प्रति । प्रतिष्ठितोऽवस्थितोऽन्ने भुज्यमानान्नविपरिणामे प्रतिदिनमुपचीयमानेऽपचीयमाने च पिण्डरूपान्ने हृदयं बुद्धिं पुण्डरीकच्छिद्रे सन्निधाय समवस्थाप्य । हृदयावस्थानमेव ह्यात्मनः स्थितिर्न ह्यात्मनः [3]स्थितिरन्ने । तदात्मतत्त्वं विज्ञानेन विशिष्टेन शास्त्राचार्योपदेशजनितेन ज्ञानेन शमदमध्यानसर्वत्यागवैराग्योद्भूतेन परिपश्यन्ति सर्वतः पूर्णं पश्यन्त्युपलभन्ते धीरा विवेकिनः । आनन्दरूपं सर्वा[4]नर्थदुःखायासप्रहीणममृतं यद्विभाति विशेषेण [5]स्वात्मन्येव भाति सर्वदा ॥७॥

अज्ञान एवं उसके कार्य संसार महोदधि को पारकर पराविद्या से जानने योग्य जिस परमात्मा को प्राप्त करना है। वह कहाँ रहता है ? उसका उत्तर श्रुति दे रही है। जो सामान्य और विशेष रूप से सम्पूर्ण विश्व को जानता है, जिसकी यह प्रसिद्ध महिमा यानी विभूति है । वह कौन-सी महिमा ? जिसके शासन में द्युलोक और पृथ्वी अच्छी प्रकार से धारण किये गये स्थित हैं। जिसके शासन में सूर्य और चन्द्र सदा अलात-चक्र की भाँति घूमते रहते हैं । जिसके शासन में नदी और समुद्र अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ते, तथा जिसके शासन में स्थावर और जङ्गम जगत् नियमित रूप से कार्य करते हैं, जिसके शासन को ऋतुएँ, अयन एवं संवत्सर अतिक्रमण नहीं करते, जिसके शासन से कर्ता, कर्म एवं फल अपने-अपने काल और मर्यादा को नहीं छोड़ते । वही उस परमेश्वर की महिमा भूलोक में है । इस प्रकार महिमा वाला वही सर्वज्ञ परमात्म देव है। प्रकाशमान् दिव्यलोक में सम्पूर्ण बुद्धि वृत्तियों से प्रकाशित होने वाले हृदयरूप ब्रह्मपुर में वह प्रतिष्ठित है । इस ब्रह्मपुर में चैतन्य स्वरूप होने से ब्रह्म सदा अभिव्यक्त है । अतः हृदय कमल उसका पुर यानी निवास स्थान कहा गया है। उस हृदय कमल के मध्य में वर्तमान हृदयाकाश में परमेश्वर प्रतिष्ठित जैसा प्रतीत होता है । आकाश के समान सर्वव्यापक परमेश्वर की गति, आगति एवं प्रतिष्ठा पूर्वोक्त रीति से ही सम्भव है; अन्य प्रकार से नहीं । वही आत्मा हृदय में स्थित होता हुआ भी मनोवृत्ति से ही अभिव्यक्त होता है। इसलिये मनरूपी उपाधि वाला होने के कारण उसे मनोमय कहा गया है । एक स्थूल शरीर से दूसरे शरीर में सूक्ष्मदेह—उपाधि वाले जीव को वही ले जाता है। इसीलिये उसे प्राण, शरीर, नेता कहा गया है। प्रतिदिन खाये हुए अन्न के परिणाम रूप से घटने-बढ़ने वाले इस पिण्डात्मक अन्न में यानी स्थूल शरीर में हृदय-पुण्डरीक के मध्य बुद्धि को संस्थापित करके अवस्थित है । शरीर में होते हुए भी हृदय में ही आत्मा का स्थान माना है; स्थूल देह में नहीं, क्योंकि हृदय में आत्मतत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। उस आत्मतत्त्व को शम, दम, ध्यान, सर्वत्याग रूप वैराग्य से उत्पन्न, शास्त्र एवं आचार्य के उपदेश से जनित विशिष्ट ज्ञान द्वारा धीर विवेकी पुरुष सभी ओर से परिपूर्ण देखते हैं। जो सम्पूर्ण अनर्थ, दुःख एवं आयास से रहित आनन्द स्वरूप अमृतरूप स्वान्तःकरण में ही सदा

१. मनोवृत्तिभिरिति द्वारभूताभिरित्यर्थः । साक्षिबोधस्य साक्ष्याधीनत्वादिति भावः । २. प्राणश्च शरीरं चेत्यादि प्राणप्रधानं लिङ्गशरीरमित्यर्थः । ३. स्थितिरन्न इति-प्रकारान्तरेणेति शेषः । ४. अनर्थदुःखेति-अनर्थ-पदमनर्थजनकविषयतद्रागपरम् । दुःखं च तत्फलम् । ५. विशेषमेव व्यनक्ति-स्वात्मन्येवेति । यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नावितिवदभेदे सप्तमी । तथा च विषयसुखमात्मभिन्नत्वेन भाति, इदं त्वात्मत्वेनैवेति विशेष इति भावः ।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥८॥

[(जो कारण रूप से पर और कार्य रूप से अपर है) उस परापर ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर इस जीव की आत्म-अनात्म-अध्यास रूप हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है । ज्ञेय पदार्थ विषयक सम्पूर्ण सन्देह नष्ट हो जाते हैं और इसके (प्रारब्ध से भिन्न) सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं ॥८॥]

अस्य परमात्मज्ञानस्य [१]फलमिदमभिधीयते । भिद्यते हृदयग्रन्थिर[२]विद्यावासनाप्रचयो बुद्ध्याश्रयः कामः "कामा येऽस्य हृदि श्रिताः" इति श्रुत्यन्तरात् । हृदयाश्रयोऽसौ नाऽऽत्माश्रयः । भिद्यते भेदं विनाशमायाति । छिद्यन्ते सर्वे[३]ज्ञेयविषयाः संशया लौकिकानामामरणात्तु गङ्गास्रोतोवत्[५]प्रवृत्ता विच्छेदमायान्ति । अस्य विच्छिन्नसंशयस्य निवृत्ताविद्यस्य यानि विज्ञानोत्पत्तेः प्राक्तनानि जन्मान्तरे चाप्रवृत्तफलानि ज्ञानोत्पत्ति-[६]सहभावीनि च क्षीयन्ते कर्माणि । न त्वेतज्जन्मारम्भकाणि प्रवृत्तफलत्वात्तस्मिन्सर्वज्ञेऽसंसारिणि परावरे परं च कारणात्मनाऽवरं च कार्यात्मना तस्मिन्परावरे साक्षादहमस्मीति दृष्टे संसारकारणोच्छेदान्मुच्यत इत्यर्थः ॥८॥

अस्य परमात्मज्ञानस्येति । **जीवन्मुक्तिफलस्याद्वैतवाक्यार्थावगमस्य क्रममुक्तिफलस्य चोपासनस्येत्यर्थः । अविद्यावासनाप्रचयो भिद्यत इति कोऽर्थः ? किं बुद्धौ विद्यमानायामविद्यादिभेदो ज्ञानफलं ?**

विशेष रूप से प्रतिभासित होता है । इस प्रकार सर्वेश्वरत्वादि गुण विशिष्ट ब्रह्म का हृदय पुण्डरीक में ध्यान करने वाले मन्द बुद्धि को क्रम-मुक्ति प्राप्त होती है ।

इस परमात्मा के अपरोक्ष ज्ञान का फल यह कहा गया है कि अविद्या-वासना के प्रचयरूप (वृद्धि) बुद्धि के आश्रित जो काम है, वह हृदय की गाँठ है क्योंकि 'जीव के हृदय में रहने वाली जो कामनायें हैं वे ही गाँठ हैं' ऐसा दूसरी श्रुति भी कहती है । कामना का आश्रय हृदय ही है, न कि आत्मा । यह हृदयरूपी गाँठ परमात्मतत्त्व के अपरोक्ष अनुभव हो जाने पर नष्ट हो जाती है । मरण-पर्यन्त लौकिक पुरुषों के गंगा धारा की भाँति प्रवृत्त रहने वाली सभी ज्ञेय वस्तु के सम्बन्ध में जो संशय हैं, वे भी नष्ट हो जाते हैं । जिसका संशय नष्ट हो गया, जिसकी अविद्या नष्ट हो चुकी है, वैसे भाग्यवान के जो तत्त्वज्ञान से पूर्व इस जन्म अथवा जन्मान्तर के किये हुए कर्म हैं, जिन्होंने अभी फल देना प्रारम्भ नहीं किया; ऐसे कर्म, और ज्ञान उत्पत्ति के सह भावी इस जन्म में किये हुए कर्म नष्ट हो जाते हैं। केवल इस जन्म के आरम्भक प्रारब्ध कर्म ही शेष रहते हैं, क्योंकि वे इषुचक्र की भाँति अपना फल प्रारम्भ कर चुके हैं । अतः उनका नाश तो भोग से ही होता है । ज्ञान मात्र से

---

१. फलमिति जीवन्मुक्तिरूपं क्रममुक्तिरूपं चेत्यर्थः । २. अविद्येति जनितेति शेषः । ३. ज्ञेयविषया इति प्रमाणविषयाणां तेषां श्रवणादिनैवोच्छिन्नत्वादिति भावः । ४. लौकिकानामिति—अज्ञानामित्यर्थः । ५. प्रवृत्ता इति-प्रवृत्ता एव भवन्ति न निवृत्ता भवन्तीति भावः । ६. सहेति—आगामीनीत्यर्थः—विज्ञानोत्पत्तिकाले तद्भावासम्भवात्तदनन्तरभावित्वार्थकत्वादिति । यद्वा ज्ञानोत्पत्तिसहभावीनीत्यनेन क्रियमाणान्येव ग्राह्याणि । तेनैव चोपलक्षणविधयाऽऽगामीन्यपीति ध्येयम् ।

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ।।९।।

[बुद्धि वृत्ति के प्रकाशमय परम कोश में वह विशुद्ध कलारहित ब्रह्मतत्त्व विद्यमान है। वह सम्पूर्ण ज्योतियों की विशुद्ध ज्योति स्वरूप है और वह यही तत्त्व है, जिसका आत्मज्ञानी पुरुष हृदय में साक्षात्कार करते हैं ।।९।।]

उक्तस्यैवार्थस्य संक्षेपाभिधायका उत्तरे मन्त्रास्त्रयोऽपि हिरण्मये ज्योतिर्मये 'बुद्धिविज्ञानप्रकाशे परे कोशे कोश इवासेः, आत्मस्वरूपो²पलब्धिस्थानत्वत्वात् परं तत्सर्वाभ्यन्तरत्वात्तस्मिन्विरजमविद्याद्यशेषदोषरजोमलवर्जितं ब्रह्म सर्वमहत्त्वात्³सर्वात्मत्वाच्च निष्कलं निर्गताः कला यस्मात्तन्निष्कलं निरवयवमित्यर्थः । यस्माद्विरजं निष्कलं चातस्तच्छुभ्रं शुद्धं ज्योतिषां सर्वप्रकाशात्मनामग्न्यादीनामपि तज्ज्योतिरवभासकम् । अग्न्यादीनामपि

किंवा तन्निवृत्तौ ? नाऽऽद्यः । सत्युपादाने कार्यस्य⁴ात्यन्तोच्छेदासम्भवात् । न द्वितीयः । ज्ञानस्याज्ञानेनैव साक्षाद्विरोधप्रसिद्धेः । किञ्च बुद्धिरप्यनादिः सादिर्वा ? नाऽऽद्यः । "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इतिश्रुतिविरोधात् । नान्त्यः । ⁵प्रलये ब्रह्मज्ञानं विनैव बुद्धेर्नाशसम्भवात्तदानर्थक्यप्रसङ्गात् । सादित्वे च बुद्धेरुपादानं साक्षाद्ब्रह्म चेत्तन्नाशं विनाऽत्यन्तोच्छेदो न स्यात् । माया चेत्सा द्रष्टृगतज्ञानेन⁶ नोच्छेदमर्हति । लौकिकमायाविगतमायाया द्रष्टृगतज्ञानेनोच्छेदादर्शनात् । किञ्च बुद्धेरुच्छेदो न

नहीं, असंसारी सर्वज्ञ उस परावर के साक्षात्कार से संसार कारण अविद्या से नष्ट हो जाने पर वह तत्त्वज्ञानी मुक्त हो जाता है। कारण रूप से वह परमेश्वर पर कहा जाता है और कार्य रूप से अपर कहा जाता है। वह ही 'मैं हूँ' इस प्रकार के अपरोक्ष अनुभव को ही उस परावर ब्रह्म का साक्षात् दर्शन कहा गया है और यही जीवन मुक्ति का कारण है। अद्वैत ब्रह्म के ज्ञान से जीवन मुक्ति और उपासना के ज्ञान से क्रम मुक्ति रूप फल प्राप्त होता है। यही उक्त मन्त्र द्वय का तात्पर्यार्थ है ।।८।।

उक्त अर्थ को ही संक्षेप रूप से आगे के तीन मन्त्र भी कह रहे हैं कि ज्योतिर्मय बुद्धि विज्ञान के प्रकाशक तलवार के कोश की भाँति प्रतीत होने के कारण जिसे श्रेष्ठ कोश कहा गया है। इस हिरण्मय कोश में आत्म स्वरूप उपलब्धि स्थान से परे सबके भीतर विद्यमान होने से जो श्रेष्ठ है—उस विरल अविद्या आदि अशेष-दोष से रूप रजोगुण से रहित है। जो सबसे महान् और सब की आत्मा होने से ब्रह्म कहा गया है। निष्फल यानी निरवयव कहा गया है क्योंकि जिससे सभी कलायें निकल चुकी हैं, उसी को निष्कल और निराकार भी कहते हैं। जबकि वह रजोगुण और कला से रहित है; अतः वह शुद्ध है और अग्न्यादि सबके प्रकाशक ज्योति की भी ज्योति है। अग्न्यादि में भी जो प्रकाशतत्त्व है, वह उसके अन्तर्गत ब्रह्मात्व चैतन्य ज्योति के निमित्त से ही है। वह ज्योति सर्वश्रेष्ठ इसलिये है कि वह किसी से प्रकाशित नहीं होती किन्तु सबका प्रकाशक है। इसीलिए शब्दादि

---

१. बुद्धिविज्ञानेति-बुद्धिवृत्तिकृतावद्योतने हार्दाकाश इत्यर्थः । २. यथाऽस्युपलब्धिस्थानत्वात् कोशत्वव्यवहारस्तद्वदित्यर्थः । ३. सर्वात्मत्वात्—सर्वरूपत्वात् । ४. अत्यन्तेति-पुनरुत्पत्तिसम्भवादिति भावः । विचारादिना किञ्चिच्छैथिल्यमेवायातीत्यभिप्रायेणात्यन्तेति । ५. प्रलय इति सादिनां घटादीनां तथादर्शनादिति भावः । ६. ज्ञानेनेति—मायाविविषयकेणेत्यर्थः ।

ज्योतिष्ट्वमन्तर्गतब्रह्मात्मचैतन्यज्योतिर्निमित्तमित्यर्थः । तद्धि परं ज्योतिर्यदन्यानवभास्यमात्मज्योतिस्तद्यदात्मविद आत्मानं स्वं शब्दादिविषयबुद्धिप्रत्ययसाक्षिणं ये विवेकिनो

तस्याः फलं स्वनाशस्याफलत्वात् । नाऽऽत्मनः । तस्य बुद्धि[1]प्रसङ्गाभावेन तदुच्छेदस्याफलत्वात् । किञ्चाऽऽत्मनोऽविद्याद्यनाश्रयत्वाभिधानं श्रुतिविरुद्धं प्रक्रमे—अविद्यायामन्तरे [2]वर्तमाना इति श्रवणादुपसंहारे च—"अनीशया[3] शोचति मुह्यमानः" इति श्रवणात् । बुद्धिगतमेवाविद्याद्यात्मन्यध्यस्यत इति चेदध्यस्यत इति कोऽर्थः । निक्षिप्यते भ्रान्त्या दृश्यते वा । नाऽऽद्यः । अन्यधर्मस्यान्यत्र निक्षेपासम्भवात् । भ्रान्त्या चेत्केन दृश्यते । न तावदात्मना । [4]तस्या[5]विद्याश्रयत्वानङ्गीकारात् । न बुद्ध्या । बुद्धेरात्म[6]विषयत्वासम्भवेन तद्गतदर्शनासम्भवात् । [7]तद्भ्रान्तेश्च स्वाश्रयगतेन तत्त्वानुभवेन निवर्त्यत्वप्रसिद्धेर्बुद्धेर[8]नुभवाश्रयत्वप्रसङ्गात् । तस्मान्नास्य भाष्यस्य सम्यगर्थं पश्याम इति चेदुच्यते[9] ।

विषयाकार बुद्धिवृत्ति के साक्षी अपने स्वरूप को जो विवेकी आत्म-तत्त्वदर्शी जानते हैं वे आत्मवित् कहलाते हैं । आत्मज्ञान के अनुसरण करने वाले पुरुष ही उसे जानते हैं । जबकि वह प्रकाश सर्वश्रेष्ठ है । अतः पूर्वोक्त साधनों से विशिष्ट पुरुष ही उसे जानते हैं । दूसरे बाह्यार्थ की प्रतीति के पीछे भागने वाले लोक उस आत्मतत्त्व को नहीं जान सकते ॥६॥

वह ब्रह्म ज्योतियों का ज्योति किस प्रकार है ? इस पर कहते हैं कि अपने आत्मरूप उस ब्रह्म में सबका प्रकाशक सूर्य भी प्रकाशित नहीं होता अर्थात् उस ब्रह्म को सूर्य प्रकाशित नहीं करता है । यहाँ पर प्रेरणार्थक णिच् प्रत्यय के अर्थ का अध्याहार करके व्याख्या की गयी है । इसीलिये भाँति शब्द का अर्थ प्रकाशित होता है ऐसा न करके 'प्रकाश करता है' ऐसा अर्थ किया गया है । उस परमेश्वर के प्रकाश से ही प्रकाशित हो सम्पूर्ण ब्रह्म भिन्न अनात्मवस्तु को सूर्य प्रकाशता है क्योंकि उस सूर्य में स्वतः प्रकाशन सामर्थ्य नहीं है । वैसे ही चन्द्रमा, तारा एवं विद्युत भी उस ब्रह्म को प्रकाशित नहीं करते, फिर भला हम लोगों के प्रत्यक्ष विषय यह अग्नि उस ब्रह्म को कैसे प्रकाशित कर सकती है । विशेष क्या कहें जो कुछ यह जगत् प्रकाशित होता है वह स्वतः प्रकाश स्वरूप उस परमेश्वर के प्रकाशित होने के बाद ही प्रकाशित होता है । जैसे अग्नि के संयोग से उष्ण जल और अंगारे जलाने वाले अग्नि के पीछे ही जलाते हैं यानी दाह तो जल एवं अंगारे में प्रविष्ट अग्नि से ही होता है। किन्तु साधारण पुरुष जल से हाथ जल गया, चिमटे से हाथ जल गया इत्यादि व्यवहार करते हैं । अतः जैसे जलादि में स्वतः दाहकता नहीं है । वैसे ही सूर्यादि में भी स्वतः प्रकाशन शक्ति नहीं है । किन्तु उस ब्रह्म के ही दीप्ति से इस सम्पूर्ण जगत् को सूर्यादि प्रकाशते हैं । इस प्रकार वही ब्रह्म सबको प्रकाशता है यानी सूर्य आदि कार्यगत विविध प्रकाशन सामर्थ्य द्वारा सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म ही प्रकाशित करता है। इसलिये उस ब्रह्म में स्वतः प्रकाशरूपत्व जाना जाता है, क्योंकि यदि ब्रह्म स्वतः प्रकाशरूप न होता, तो भला दूसरे को कैसे प्रकाश कर सकता था ? घटादि अप्रकाशमान् वस्तु को किसी दूसरे के प्रकाशक

---

१. प्रसङ्गः=तात्त्विकः सङ्गः । २. मु. १-२-८ । ३. मु. ३-१-२ । ४. तस्य आत्मनः । ५. अविद्येत्यादि तथा च तस्य आविद्यकभ्रान्त्यनुपपत्तेरिति भावः । ६. आत्मविषयत्वेति-जडत्वेनात्मभासकत्वाभावेनात्मगतभासकत्वाभावादित्यर्थः । (आत्मेत्यादि स्वविषयकत्वासम्भवात् स्वगतधर्मविषयकत्वासम्भवादित्यर्थः) ।
७. तद्भ्रान्तेरिति-बुद्धिगतभ्रान्तेः । ८. अनुभवशब्दोऽत्र चित्प्रतिबिम्बार्थकः । तदाश्रयत्वं च बिम्बस्यैवेत्यापत्तिः सङ्गच्छते, वृत्यात्मकार्थत्वे त्वतिप्रसङ्गोक्तिरकाण्डपातिन्येव स्यात् । ९. बुद्धिधर्मस्य कामस्यात्मन्यारोपितस्यैवानर्थतया तदारोपनिमित्तस्य बुद्धितादात्म्यस्यैव ग्रन्थित्वं भाष्यकाराभिप्रेतम् । कामस्य ग्रन्थित्ववचनं तु साक्षादनर्थत्वेन जिहासितत्वाभिप्रायमित्याशयेन समाधत्ते उच्यत इति ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१०॥

[वहाँ आत्म स्वरूप ब्रह्म में सबको प्रकाशित करनेवाला यह सूर्य भी प्रकाशित नहीं होता है और न चन्द्रमा तथा तारे भी वहाँ पर प्रकाशित नहीं होते हैं। वहाँ यह बिजली भी नहीं चमकती, फिर भला यह अग्नि उसे कैसे प्रकाशित कर सकती है। उसके प्रकाशित होने पर ही ये सभी प्रकाशित होते हैं। विशेष क्या, ये सब कुछ उसी प्रकाश से भासित हो रहे हैं ॥१०॥]

विदुर्विजानन्ति त आत्मविदस्तद्विदुरा[1]त्मप्रत्ययानुसारिणः। [2]यस्मात्परं ज्योतिस्तस्मात्त एव तद्विदुर्नेतरे बाह्यार्थप्रत्ययानुसारिणः ॥९॥

कथं तज्ज्योतिषां ज्योतिरित्युच्यते—न तत्र तस्मिन्स्वात्मभूते ब्रह्मणि सर्वावभासकोऽपि सूर्यो भाति। तद्ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः। स हि तस्यैव भासा सर्वमन्यदनात्मजातं प्रकाशयतीत्यर्थः। न तु तस्य स्वतः प्रकाशनसामर्थ्यम्। तथा न चन्द्रतारकं

---

[3]चित्तन्त्रा[4]ऽनादिर[5]निर्वाच्याऽविद्या चैतन्यमवच्छिद्य स्वावच्छिन्नचैतन्यस्य [6]बुद्ध्यादितादात्म्यरूपेण [7]विवर्तते। तस्याश्च ब्रह्मात्मतासाक्षात्कारनिवर्त्यरूपाङ्गीकारात्तन्निवृत्तौ तदुत्थहृदयग्रन्थिभेदः श्रुत्योच्यते। भाष्यकारीयं च बुद्ध्याश्रयत्वाभिधानम[8]हंकारविशेषणत्वेना[9]विद्यादे[10]र्व्यावहारिकाभिप्रायेणाऽऽत्मानाश्रयत्वाभिधानं चाऽऽत्मनो [11]निर्विकारत्वाभिप्रायम्। [12]बाधितानुवृत्तिश्च[13]प्रकटार्थे प्रादर्शीति जीवन्मुक्तिर्न विरुध्यते ॥८॥९॥

भातीति[14]णिजर्थाध्याहारेण व्याख्यातम्। तस्य भासा सर्वमिदं विभातीत्यस्य ब्रह्मणः स्वतो

रूप से नहीं देखा गया है और प्रकाशरूप सूर्यादि में अन्य वस्तु का प्रकाशकत्व देखा गया है। अर्थात् प्रकाशहीन घटादि किसी भी वस्तु को प्रकाशित नहीं करते। इसके विपरीत प्रकाशमान् सूर्यादि अन्य वस्तु को प्रकाशते हैं। ऐसा लोक में देखे जाने के कारण ब्रह्म में स्वप्रकाशता निश्चित हो जाती है ॥१०॥

---

१. आत्मप्रत्ययेति—आत्मानुसन्धानशीला इत्यर्थः। २. यस्मादित्यादि—न ह्यरुन्धतीमप्यसूक्ष्मदृशोऽवलोकयन्ति किमुत ततोऽपि परम्=सूक्ष्मम्। ३. चित्तन्त्रा=चिदाश्रयविषया न तु तदुपादाना। ४. येन नात्यन्तोच्छेद इति सूचयन्नाह—अनादिरिति। ५. तथात्वेऽपि न ब्रह्मवदबाध्या किन्तु ज्ञानबाध्येति सम्भावयति—अनिर्वाच्येति। ६. बुद्ध्यादीति—बुद्ध्यादिरूपेण तत्तादात्म्यरूपेण च विवर्तते परिणमते। अवच्छेद्यमहिम्ना यथा स्वावच्छेद्याकाशमहिम्ना भेर्यादयः शब्दायन्ते तद्वत्। ७. प्रतीतिमात्रसत्त्वावद्योतनाय विवर्तत इत्युक्तम्। ८. अहंकारविशेषणत्वेनेति—अन्तःकरणधर्मतयेत्यर्थः। ९. अविद्यादेः कर्मादेरित्यर्थः। १०. व्यावहारिकत्वबोधनेच्छयेत्यर्थः। ११. निर्विकारत्वेति तत्त्वत इत्यादिः। १२. ननु हृदयग्रन्थिभेदे व्यवहारानुपपत्तेर्जीवन्मुक्तिरसम्भवेत्याशङ्क्याह—बाधितानुवृत्तिश्चेति। दग्धपटवद्बाधितस्यापि तादात्म्यादेः प्रतीतिस्त्वित्यर्थः। १३. प्रकटार्थे तन्नाम्नि तदीयग्रन्थे। १४. अर्थाध्याहारमनेनाह—णिजर्थाध्याहारेणेति।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥११॥

इति द्वितीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥२॥

॥ इति द्वितीयमुण्डकं समाप्तम् ॥

[यह अमृत स्वरूप ब्रह्म ही सबके आगे है, ब्रह्म ही पीछे है, दायें और बायें ओर भी वही है तथा ब्रह्म ही नीचे-ऊपर सभी ओर फैला हुआ है । अधिक क्या कहें ? यह सम्पूर्ण विश्व सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म स्वरूप ही तो है (उसी में रज्जू सर्प की भाँति यह संसार भास रहा है) ॥११॥]

॥ इति द्वितीयमुण्डके द्वितीयखण्डः ॥

॥ इति द्वितीयमुण्डकं समाप्तम् ॥

नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निरस्मद्गोचरः[1]। किं बहुना यदिदं जगद्भाति तत्तमेव परमेश्वरं स्वतो भारूपत्वाद्भान्तं दीप्यमानमनुभात्यनुदीप्यते । [2]यथा जलोल्मुकाद्यग्निसंयोगादग्निं दहन्तमनुदहति न स्वतस्तद्वत्तस्यैव भासा दीप्त्या सर्वमिदं सूर्यादिजगद्विभाति । यत एव तदेव ब्रह्म भाति च विभाति च कार्यगतेन [3]विविधेन भासाऽतस्तस्य ब्रह्मणो भारूपत्वं स्वतोऽवगम्यते । न हि स्वतोऽविद्यमानं भासनमन्यस्य कर्तुं शक्नोति । घटादीनामन्यावभासकत्वादर्शनाद्भारूपाणां चाऽऽदित्यादीनां तद्दर्शनात् ॥१०॥

यत्तज्ज्योतिषां ज्योतिर्ब्रह्म तदेव सत्यं सर्वं तद्विकारं वाचारम्भणं विकारो नाम-

---

भारूपत्वे तात्पर्यं कथयति—यत एवं तदेव ब्रह्म भाति चेति ॥१०॥

उपसंहारमन्त्रस्य तात्पर्यमाह—यत्तज्ज्योतिषां ज्योतिरिति तेत ब्रह्मणा विविधं क्रियत इति तद्विकारं सर्वं जगत्सर्वं ब्रह्मैवेति बाधायां सामानाधिकरण्यं योऽयं स्थाणुः पुमानसावितिवदन्वय-

---

वह ज्योतियों का ज्योति ब्रह्म है। वही त्रिकालाबाधित सत्य है, उसके विवर्त सम्पूर्ण जगत् नामरूप वाणी से कहने मात्र के लिए है। अतः मिथ्या है। इसी अर्थ को विस्तार पूर्वक युक्ति और तर्क से बतलाया गया । अब उसी का निगमस्थानीय मन्त्र द्वारा पुनः उपसंहार करते है ।

---

१. अस्मद्गोचरः=सूर्याद्यपेक्षयाऽत्यल्पप्रकाशक इति भावः । २. ननु गच्छन्तमनुगच्छतीतिवद्भान्तमनुभातीत्यत्राप्यनुमानकर्तुर्भानं स्वत एव स्यादित्याशङ्क्याह—यथेत्यादि । ३. विविधेन भासेति प्रयोगाद्भाः शब्दस्यास्त्रीलिङ्गत्वमप्यवगम्यते । ४. यथोक्तसामानाधिकरण्यफलमाह—अन्वयेति । अन्वयरूपो यो व्यतिरेकाभावस्तत्परिहारेणेत्यर्थः । ब्रह्मणि जगत्तादात्म्यरूपो यो ब्रह्मव्यतिरेकेण जगदभाव एवकारलभ्यस्तत्परिहारेण सर्वं ब्रह्मेति सामान्यधिकरण्येन तदभावबोधनेनेति यावत् । इति प्राञ्चः । यद्वा पुरोदृश्यस्य पश्चादभावः पश्चात् सतश्च पुरोऽभावो न चोभयत्र ब्रह्माभाव इति दृश्यान्वव्यतिरेकयोरपि ब्रह्मणोऽभावपरिहारेणेत्यर्थः । बत्सत्त्वासत्त्वयोरपि यत्सत्त्वं न व्यभिचरति तत्तावन्मात्रं, यथा स्वप्नदृश्यं दृष्टिमात्रमिति व्याप्तेरिति भावः । (टिप्पणे) बाधसामानाधिकरण्येन तादात्म्यनिरासमुखेन तावन्मात्रत्वविवक्षायां ब्रह्मैवेदं विश्वमित्येतावदेव पर्याप्तमिति ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तादित्याद्युक्तिर्व्यर्थेत्यरुच्याऽर्थान्तरमाह—यद्वेत्यादिना ।

धेयमात्रममृतमितरदित्येतमर्थं विस्तरेण [1]हेतुतः प्रतिपादितं निगमनस्थानीयेन मन्त्रेण पुनरुपसंहरति—ब्रह्मैवोक्तलक्षणमिदं यत्पुरस्तादग्रेऽब्रह्मेवाविद्यादृष्टीनां प्रत्यवभासमानं तथा पश्चाद्ब्रह्म तथा दक्षिणतश्च तथोत्तरेण तथैवाधस्तादूर्ध्वं च सर्वतोऽन्यदिव कार्याकारेण प्रसृतं प्रगतं नामरूपवदवभासमानम् । किं बहुना ब्रह्मैवेदं विश्वं समस्तमिदं जगद्वरिष्ठं वरतमम् । अब्रह्मप्रत्ययः सर्वो[2]ऽविद्यामात्रो रज्ज्वामिव सर्पप्रत्ययः । ब्रह्मैवैकम्परमार्थसत्यमिति वेदनुशासनम् ॥११॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥२॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयमुण्डकं समाप्तम् ॥२॥

---

[3]व्यतिरेकाभावपरिहारेण [4]तावन्मात्रत्वं बोध्यते ॥११॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्यटीकायां द्वितीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥२॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्यटीकायां द्वितीयं मुण्डकं समाप्तम् ॥२॥

जिसका लक्षण पहले बतलाया गया, वही ब्रह्म पीछे भाग में दीखता है। दक्षिण, उत्तर, नीचे और ऊपर सभी ओर भिन्न की भाँति कार्याकार रूप से सर्वत्र फैला हुआ दीखता है। अर्थात् नामरूप विशिष्ट सम्पूर्ण जगत् जो प्रतीत हो रहा है, वह उसी ब्रह्म का विस्तार है। पर अज्ञानियों को ब्रह्मरूप से न दीखकर तद्भिन्न रूप से दीखता है। किंबहुना, यह सम्पूर्ण जगत् श्रेष्ठतम ब्रह्म ही तो है। ब्रह्म से भिन्न वस्तु का जो प्रत्यय होता है, वह सब रज्जु में सर्प प्रतीति की भाँति अविद्या का विलास मात्र है। परमार्थ सत्य तो एक अद्वितीय ब्रह्म ही है। ऐसा वेद का अनुशासन है ॥११॥

---

१. हेतुत इति—आविः सन्निहितमित्यादिविशेषणसूचितैर्हेतुभिरित्यर्थः । २. अविद्यामात्रो भ्रान्तिरूपः । ३. ननु चतुर्विधं भवति पदानां सामानाधिकरण्यं यथाहुः—बाधाध्यासविशेषणैक्यविषयं नाम्नोश्चतुर्धा मतं सामानाधिकरण्यमिति स्वाराज्यसिद्धावुत्तरार्धे ३९ श्लोके । नाम्नोः समानविभक्तिकप्रातिपदिकयोः । भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकत्वे सत्येकार्थप्रतिपादकत्वं हि शब्दानां सामानाधिकरण्यम् । तत्र बाधविषयं तावच्चौरोऽयं स्थाणुरिति । पूर्वोत्पन्नमिथ्याप्रत्ययस्योत्तरेण यथार्थप्रत्ययेन विषयापहारो बाधः । अतस्मिंस्तद्बुद्धिरध्यासस्तत्रैक आहार्यरूपः । (अध्यास इति सम्पत्प्रतीकोपासने अप्यध्यासेऽन्तर्भवत इति ध्येयम्) । स च भेदादिग्रहे सत्यपीच्छया क्रियमाणः । तद्विषयं च सामानाधिकरण्यं यथा सिंहो माणवक इति । यत्र ह्येकपदोत्पन्ना सामान्यबुद्धिः पदान्तरेण विवक्षितांशव्यावर्तनेन स्वार्थसंसृष्टे विशेषेऽवस्थाप्यते यथा नीलमुत्पलं दण्डी पुरुष इति तत्र विशेषणविषयं सामानाधिकरण्यम् । यत्र तु पदानि तात्पर्यविषयवाच्यार्थांशपरित्यागेन परस्परार्थविरुद्धांशपरित्यागेन वा असंसृष्टवस्तुमात्रपराणि तत्रैक्यविषयं सामानाधिकरण्यं यथा प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः सोऽयं देवदत्त इति । इत्यादि तत्र टीकायाम् । तथा च सति प्रकृतेऽध्यासादिविषयमेव सामानाधिकरण्यं कुतो न स्यादित्याशङ्क्याह—अन्वयेत्यादि । अन्वयः सम्बन्धः । विशेषणविषयसामानाधिकरण्ये हि ब्रह्मजगतोः समवायादिसम्बन्ध एव बुध्येत न चासौ विवक्षित इति न तद्विषयं सामानाधिकरण्यम् । अध्यासविषये च व्यतिरेको भेदः स्यादिति न तत् । ऐक्यविषये चाभावः प्रत्यासत्त्याव्यतिरेकस्यैव सोऽपि न विवक्षित इत्यन्वयादिपरिहारार्थं बाधसामानाधिकरण्ये न ब्रह्ममात्रत्वं बोध्यत इत्यर्थः । ४. तावन्मात्रत्वं—जगतो ब्रह्ममात्रत्वम् ।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥१॥

[जो सर्वदा साथ-साथ रहने वाले और समान आख्यान वाले दो पक्षी हैं। ये दोनों एक शरीर रूप वृक्ष के आश्रित हैं। उनमें एक तो क्षेत्र जीव अपने कर्म से प्राप्त होने वाले स्वादिष्ट सुख-दुःख रूप फल का उपभोग करता है और दूसरा (नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव परमात्मा) कर्म फल का भोग न करता हुआ केवल देखता रहता है ॥१॥]

परा विद्योक्ता यया तदक्षरं पुरुषाख्यं सत्यमधिगम्यते। यदधिगमे हृदयग्रन्थ्यादि-संसारकारणस्याऽऽत्यन्तिकविनाशः स्यात्। तद्दर्शनोपायश्च योगो धनुराद्युपादानकल्पनयोक्तः। अथेदानीं [1]तत्सहकारीणि सत्यादिसाधनानि वक्तव्यानीति तदर्थमुत्तरारम्भः। प्राधान्येन तत्त्वनिर्धारणं च प्रकारान्तरेण क्रियते। अत्यन्तदुरवगाह्यत्वात्कृतमपि तत्र सूत्रभूतो मन्त्रः परमार्थवस्त्ववधारणार्थमुपन्यस्यते—द्वा द्वौ सुपर्णा सुपर्णौ शोभनपतनौ सुपर्णौ पक्षिसामान्याद्वा [3]सुपर्णौ सयुजा सयुजौ सहैव सर्वदा युक्तौ सखाया सखायौ [4]समानाख्यानौ [5]समानाभिव्यक्तिकारणावेवम्भूतौ सन्तौ समानमविशेषमुपलब्ध्यधिष्ठा[6]नतयैकं

प्राधान्येनेति। [7]अपूर्वत्वेन तात्पर्यविषयतयेत्यर्थः। द्वा सुपर्णेत्यादौ द्विवचनस्याऽऽकारश्छान्दसः। जीवस्याज्ञत्वेन [8]नियम्यत्वेन योग्यत्वादीश्वरस्य सर्वज्ञत्वेन नियामकत्वशक्तियोगाच्छोभनमुचितं पतनं नियम्यनियामकभावगमनं ययोस्तौ शोभनपतनौ। पक्षिसामान्याद्वेति। वृक्षाश्रयणादिश्रवणादित्यर्थः। ऊर्ध्वमुत्कृष्टं ब्रह्म मूलमधिष्ठानमस्येत्यूर्ध्वमूलोऽवाञ्चः [9]प्राणादयः शाखा इवास्येत्यवाक्शाखः। इवः

❀ तृतीय मुण्डक प्रथम खण्ड ❀

जिसके द्वारा उस सत्य पुरुष नामक अक्षर ब्रह्म का अधिगम होता है, ऐसी परा विद्या बतलायी गयी। जिस अक्षर ब्रह्म अधिगम हो जाने पर हृदयग्रन्थि आदि-संसार कारण का सर्वथा नाश हो जाता है। उस ब्रह्म के दर्शन का उपाय 'धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रम्' इत्यादि मन्त्र में धनुरादि उपादान कल्पना के द्वारा बतला दिया गया। अब इस समय उसके सहकारी सत्यादि साधन को बतलाना आवश्यक जानकर उसे बतलाने के लिये आगे का ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है। प्रकारान्तर से प्रधान रूप में तत्त्व का निश्चय भी कराया गया है। यद्यपि परमार्थ वस्तु का अवधारण पहले किया जा चुका है, फिर भी अत्यन्त दुःखग्राह्य होने के कारण इस विषय में सूत्रभूत मन्त्र का उपन्यास किया जाता है। इस शरीररूप वृक्ष के ऊपर जीवात्मा और परमात्मा दो समान स्वभाव वाले सर्वदा एक साथ रहने वाले सुन्दर आँख वाले पक्षी विद्यमान हैं। जैसे दो पक्षी एक वृक्ष में रहते हों, ऐसा शरीर रूप वृक्ष इन दोनों का आश्रय है। अतः जीवात्मा-परमात्मा को भी सुन्दर पंखवाले सुपर्ण कह दिया गया है। स्वरूपतः

---

१. तत्सहकारीणीति-यथोक्तयोगसहकारीणीत्यर्थः। २. मु० ३-१-५। ३. सुपर्णाविति-पक्षिणावित्यर्थः।
४. समानाख्यानौ—चैतन्यमिति तुल्याभिधानौ। ५. समानाभिव्यक्तिकारणाविति-समानं देहान्तःकरणात्मकं तुल्यं वेदान्तवाक्यात्मकमुपलब्धिकारणं वा ययोरिति विग्रहः। ६. आश्रयतया। ७. अपूर्वत्वेनेति मानान्तरानधिगतत्वेन हेतुनेत्यर्थः। ८. नियम्यत्वेन नियन्तुमिति यावद्। ९. प्राणादयो हिरण्यगर्भादयः।

वृक्षं वृक्षमिवोच्छेदनसामान्याच्छरीरं वृक्षं परिषस्वजाते परिष्वक्तवन्तौ । सुपर्णाविवैकं वृक्षं फलोपभोगार्थम् । अयं हि वृक्ष ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखोऽश्वत्थोऽव्यक्तमूलप्रभवः [1]क्षेत्रसंज्ञकः सर्वप्राणिकर्मफलाश्रयस्तं परिष्वक्तौ सुपर्णाविवाविद्याकामकर्मवासनाश्रयलिङ्गोपाध्यात्मेश्वरौ । तयोः परिष्वक्तयोरन्य एकः क्षेत्रज्ञो लिङ्गोपाधिवृक्षमाश्रितः पिप्पलं कर्मनिष्पन्नं सुखदुःखलक्षणं फलं स्वाद्वनेकविचित्र[2]वेदनास्वादरूपं स्वाद्वत्ति भक्षयत्युपभुङ्क्तेऽविवेकतः । अनश्नन्नन्य इतर ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सर्वज्ञः सत्त्वोपाधिरीश्वरो नाश्नाति । प्रेरयिता ह्यसावुभयोर्भोज्यभोक्त्रोर्नित्य[3]साक्षित्वसत्तामात्रेण । स त्वनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति पश्यत्येव केवलम् । दर्शनमात्रं हि तस्य प्रेरयितृत्वं न [4]राजवत् ॥१॥

स्थानं नियन्तुमस्य न शक्यमित्यश्वत्थः । अव्यक्तमव्याकृतं मूलमुपादानम[5]न्वयितस्मात्प्रभवतीति तथोक्तो यावदज्ञानभावीत्यर्थः । अविद्याकामकर्मवासनानामाश्रयो लिङ्गमुपाधिर्यस्याऽऽत्मनः स जीवस्तथोक्तः स चेश्वरश्चतावित्यर्थः । सत्त्वं मायाख्यमुपाधिरस्येतिसत्त्वोपाधिः । ज्ञानात्मकस्यामलसत्त्वराशेरिति[6] ह्युक्तम् ॥१॥

जीवात्मा और परमात्मा समान हैं और उपाधि के कारण से इनमें जीवत्व तथा परमेश्वरत्व है। इसीलिए इन्हें 'सयुजासखाया' कहा गया है। इन दोनों की अभिव्यक्ति का कारण भी एक ही है। दोनों की उपलब्धि के अधिष्ठान रूप से शरीर एक है इसलिये 'समानम्' कहा गया है। वृक्ष के समान शरीर का भी उच्छेद हो जाता है। अतः शरीर को भी वृक्ष कहा गया है। ऐसे समान वृक्ष रूप शरीर के ऊपर पूर्वोक्त जीवात्मा एवं परमात्मा रूप पक्षी परिष्वक्त हैं। अर्थात् फलोपभोग के लिये पक्षियों के समान एक ही वृक्ष पर निवास कर रहे हैं।

यह वृक्ष अव्यक्तरूप मूल से उत्पन्न हुआ है। इसलिये उसे ऊर्ध्वमूल कहते हैं। सभी प्राणी ब्रह्मापेक्षया अल्प शक्तिवाले होने के कारण निम्न कोटि के हैं और ये संसार वृक्षके नीचे शाखा के समान हैं। कल तक इसकी स्थिरता निश्चित न होने के कारण इसे अश्वत्थ कहते हैं। सभी प्राणियों के कर्म फल का आश्रय होने से इसे क्षेत्र नाम से कहते हैं। अविद्या, काम, कर्म एवं वासना के आश्रयरूप लिंगशरीरात्मक उपाधि जिनके हैं, इसीलिये सुपर्ण कहा है। ऐसे जीवात्मा और परमात्मा दोनों पक्षी उस वृक्ष के ऊपर लिपटे हुए हैं। शरीर के आलिंगन करने वाले इन दोनों में से लिंग शरीर रूप उपाधि वाला वृक्ष के आश्रित एक जीवात्मा परमात्मा से भिन्न है। और वह क्षेत्रज्ञनाम से इसलिये कहा गया है; क्योंकि कर्म से उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःख रूप फल को भोगता है। अनेक विचित्र वेदना एवं स्वाद वाला होने के कारण उस फल को स्वादिष्ट कहते हैं। उस स्वादिष्ट फल का भोग अविवेक के कारण जीव करता रहता है। किन्तु जीव से भिन्न ईश्वर नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, सभी जीवों की उपाधि से उपहित ईश्वर साक्षी-सर्वज्ञ होने के कारण पूर्वोक्त फल का उपभोग नहीं करता। वह तो नित्य साक्षित्व एवं सत्तामात्र रूप से दोनों भोज्य और भोक्ता का प्रेरयिता है। इसीलिए वह कर्म फल का भोग न करता हुआ भोज्य और भोक्ता दोनों को केवल प्रकाशता ही है। उस परमेश्वर का दर्शनमात्र ही प्रेरकत्व है। जैसे राजा साक्षीमात्र रहता है। उसके साक्षित्व में सभी भृत्यादि नियत

१. क्षेत्रसंज्ञक इति 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयत'—इति स्मृतेः। २. वेदनास्वादेत्यादि—ज्ञानानुभवरूपम्।
३. साक्षित्वेत्यादि—साक्षित्वेन यत्सत्त्वमवस्थानं तावन्मात्रेणेत्यर्थः। ४. राजवदिति—न राजवदित्यपि पठ्यते।
५. परिणामि। ६. अमलसत्त्वं शुद्धसत्त्वप्रधानमायातत्त्वं राशिरूपाधिर्यस्येति विग्रहः।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥२॥

[(ईश्वर के साथ) एक ही शरीररूप वृक्ष पर रहने वाले जीव अनीशत्व के कारण अपने को असमर्थ मानता हुआ मोह के वशीभूत होकर शोक करता है। पर वह जिस समय अपने से विलक्षण, योगियों से सेवित परमेश्वर और उसकी संसार महिमा को देखता है, उस समय वह शोक से मुक्त हो जाता है ॥२॥]

तत्रैवं सति समाने वृक्षे यथोक्ते शरीरे पुरुषो भोक्ता जीवोऽविद्याकामकर्मफलरागादि-गुरुभाराक्रान्तोऽलाबुरिव[1] सामुद्रे जले निमग्नो निश्चयेन देहात्मभावमापन्नोऽयमेवाहममुष्य पुत्रोऽस्य नप्ता कृशः स्थूलो गुणवान्निर्गुणः सुखी दुःखीत्येवंप्रत्ययो नास्त्यन्यो[2]ऽस्मादिति जायते म्रियते संयुज्यते वियुज्यते च सम्बन्धिबान्धवैः । अतोऽनीशया न कस्यचित्समर्थोऽहं पुत्रो मम विनष्टो मृता मे भार्या किं मे जीवितेनेत्येवं दीनभावोऽनीशा तया शोचति

आवरणं विक्षेपश्च द्वयमविद्यायाः कार्यम् । तत्रेश्वरभावाप्रति[3]पत्तिरनीशाऽऽवरणं शोचतीति विक्षेपः। तदुभयहेतुरनिर्वाच्यमज्ञानं मोहः। तेन विशिष्टोऽनेकैरनर्थप्रकारैरहं करोमीत्यादिभिरविवेकतया

रूप से काम करते हैं, वैसे ही स्वयं-प्रकाश नित्य चैतन्य रूप परमात्मा उन्हें प्रकाश देता है। यही परमात्मा की प्रेरणा है; न कि संसारी की भाँति विकारी होकर प्रेरणा करना है। अतः परमात्मा निर्विकार है ॥१॥

पूर्वोक्त मन्त्र में बतलाये गये जीव और ईश्वर में से अविद्या, काम, कर्म, तथा उसके फल में रागादिरूप अत्यन्त गुरुतम भार से आक्रान्त जीव यथोक्त शरीर रूप समान वृक्ष में वैसे ही निमग्न रहता है, जैसे समुद्र के जल में तुम्बे डूबे रहते हैं। वह जीव अपने को कर्म फल का भोक्ता मानता है और निश्चय पूर्वक आत्मा मानता हुआ 'यह देह ही मैं हूँ' 'अमुक का पुत्र हूँ', 'अमुक का पात्र हूँ', 'कृश हूँ', 'स्थूल हूँ', गुणवान् हूँ', 'गुणरहित हूँ', 'सुखी हूँ', 'दुःखी हूँ', इत्यादि प्रतीति वाला होने से साथ ही देह से भिन्न कुछ नहीं है ऐसा मानकर जन्मता है, मरता हैं, सगे-सम्बन्धियों से संयुक्त होता है, और विभक्त भी होता है। इस प्रकार जीव भाव से आवृत हो सोचता रहता है "मैं किसी काम में समर्थ नहीं हूँ, मेरे पुत्र नष्ट हो गये, मेरी पत्नी मर गयी, अब मुझे जीवित रहने से क्या लाभ ? ऐसी दीनता का नाम ही अनीशा है। इसी अनीशा के कारण अनेक प्रकार के अनर्थों से मोहित हुआ वह जीव सन्तप्त होता रहता है। अविवेक के कारण चिन्तित होता हुआ वह जीव ऐसे ही प्रेत-तिर्यक् मनुष्यादि योनियों में अत्यन्त वेग पूर्वक घूमता रहता है, अर्थात् जन्मता-मरता रहता है। कदाचित् अनेक जन्मों के सञ्चित शुद्ध धर्म के फलस्वरूप किसी परम दयालु गुरु से उसकी भेंट हो जाती है, और उसके द्वारा बतलाये गये अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य-सर्वत्याग-शम-दमादिरूप उचित मार्ग को प्राप्त कर समाहित अन्तःकरण होकर अनेक योगियों और कर्मियों से सेवित परमात्मा का ध्यान करता हुआ जब देखता है, जो परमात्मा वृक्षरूप उपाधि के लक्षण से सर्वथा

---

१. नायं निमज्जनस्वभाव इत्यनुरूपं दृष्टान्तमाह—अलाबुरिवेति । २. अस्माद्देहादन्य आत्मानास्तीत्यर्थः ।
३. नाहमीश्वर इत्येवंरूपा ।

सन्तप्यते मुह्यमानोऽनेकैरनर्थप्रकारैरविवेकतया चिन्तामापद्यमानः स एवं प्रेततिर्यङ्मनुष्यादियोनिष्वाजवं जवीभावमापन्नः कदाचिदनेकजन्मसु [1]शुद्धधर्मसञ्चितनिमित्ततः केनचित्परमकारुणिकेन दर्शितयोगमार्गोऽहिंसासत्यब्रह्मचर्यसर्वत्यागशमदमादिसम्पन्नः समाहितात्मा सञ्जुष्टं सेवितमनेकैर्[2]योगमार्गैः कर्मिभिश्च यदा यस्मिन्काले पश्यति ध्यायमानोऽन्यं वृक्षोपाधिलक्षणाद्विलक्षणमीशमसंसारिणमशनायापिपासाशोकमोहजरामृत्य्वतीतमीशं सर्वस्य जगतोऽयमहमस्म्यात्मा सर्वस्य समः सर्वभूतस्थो नेतरोऽविद्याजनितोपाधिपरिच्छिन्नो [3]मायात्मेति विभूतिं महिमानं च जगद्रूपमस्यैव मम परमेश्वरस्येति यदैवं द्रष्टा तदा वीतशोको भवति सर्वस्माच्छोकसागराद्विप्रमुच्यते कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः ॥२॥

तादात्म्यापन्नतयेत्यर्थः । आजवमनवरतं जवीभावं निकृष्टभावं लक्षणया लघुभावं कर्मवायुप्रेरिततया

भिन्न है, ईश्वर है, असंसारी है, क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्यु से रहित है और सम्पूर्ण जगत् का जो ईश्वर है; "उसे यही मैं हूँ जो उस सबकी आत्मा, सब में सम और सम्पूर्ण भूतों में स्थित है, उससे भिन्न मैं नहीं हूँ," इस प्रकार ध्यान करते हुए देह एवं संसार से विलक्षण परमात्मा का अपरोक्ष अनुभव करता है। साथ ही अविद्या जनित-देहादि उपाधि से परिच्छिन्न मायारूप में नहीं हूँ, ऐसा समझता है। सम्पूर्ण जगत् रूप विभूति को भी अपने परमेश्वर की महिमा देखता है। जब इस प्रकार देख लेता है, तब वह द्रष्टा पुरुष सम्पूर्ण शोक सागर से मुक्त हो जाता है अर्थात् कृत-कृत्य हो जाता है। अज्ञान के वशीभूत हो देह और संसार में संसक्त जीव शोक करता है और जब अनेक योगियों एवं कर्म परायण महापुरुषों से संसेवित देह-विलक्षण परमात्मा को अपरोक्ष रूप से देख लेता है। विशुद्ध परमात्मा के आत्मभाव से अपरोक्ष अनुभव कर लेने के बाद प्रारब्धवेग पर्यन्त दीखने वाले अपने देह तथा सम्पूर्ण विश्व को परमात्मा की महिमा समझता है, वह अभेद आत्मदर्शी ब्रह्मनिष्ठ पुरुष शोकादि-सम्पूर्ण दुःख सागर से छूट जाता है। यह इस मन्त्र का भावार्थ है ॥२॥

अन्य मन्त्र भी विस्तार पूर्वक इसी अर्थ को बतला रहे हैं। जिस समय विद्वान् साधक स्वयं प्रकाश-स्वरूप सम्पूर्ण जगत् के कर्ता एवं शासक ब्रह्मयोनि ईश्वर को देखता है। उस समय विद्वान् द्रष्टा मूल सहित सम्पूर्ण पुण्य-पाप कर्म-बन्धन को नष्ट कर निरञ्जन-निर्लेप-सम्पूर्ण दुःख से रहित हो सर्वोत्कृष्ट, निरतिशय, अद्वय रूप समता को पार कर जाता है। स्वयं प्रकाश या सुवर्ण के समान प्रकाशमान् अविनाशी ज्योति होने के कारण परमेश्वर को रुक्मवर्ण कहते हैं। वह सम्पूण जगत् का कर्त्ता और शासक भी है एवं ब्रह्म होते हुए सम्पूर्ण विश्व का अभिन्न निमित्त उपादान कारण होने से उसे ब्रह्मयोनि कहते हैं। अथवा कार्य ब्रह्म की योनि होने के कारण उसे ब्रह्मयोनि कहते हैं। ऐसे ब्रह्म का जिस समय आत्मभाव से मुमुक्षु अपरोक्ष अनुभव कर लेता है, उस समय विद्वान् आत्मदर्शी कहा जाता है एवं बन्धन रूप मूल सहित सम्पूर्ण पुण्य-पापों को नष्ट कर निर्लेप हो वह विद्वान् परम साम्य को प्राप्त करता है। ब्रह्मज्ञान के बिना व्यवहारिक जगत् में द्वैत विषयक साम्य भी हो सकता है जो इस अद्वैत भावरूप समता की अपेक्षा निम्नकोटि का माना जाता है। किन्तु वह अद्वय रूप सर्वोत्कृष्ट निरतिशय है, जिसे ब्रह्मात्मदर्शी ही प्राप्त कर

---

१. शुद्धेत्यादि—निष्कामकर्मानुष्ठानोपासनरूपशुद्धधर्मेण सञ्चितं सम्पादितं यन्निमित्तमपूर्वरूपं तत इत्यर्थः । २. योगो मार्गो येषां तैर्योगिभिरित्यर्थः । ३. मायात्मेति—मिथ्यात्मेत्यर्थः ।

यथा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥३॥

[जब तत्त्व द्रष्टा (चेतन) स्वयं प्रकाश यह सुवर्ण के समान प्रकाशमान् सुवर्ण वर्ण और ब्रह्मा के भी उत्पत्ति स्थान उस जगन्निर्माता परमेश्वर पुरुष को देखता है, उस समय वह विद्वान् पाप-पुण्य दोनों को त्याग कर विशुद्ध हो अत्यन्त समानता को प्राप्त हो जाता है ॥३॥

अन्योऽपि मन्त्र इममेवार्थमाह सविस्तरम्-यदेत्यादिना । यदा यस्मिन्काले पश्यः [1]पश्यतीति विद्वान्साधक इत्यर्थः । पश्यते पश्यति पूर्ववद्रुक्मवर्णं स्वयंज्योतिःस्वभावं [2]रुक्मस्येव वा ज्योतिरस्याविनाशि कर्तारं सर्वस्य जगत ईशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं ब्रह्म च तद्योनिश्चासौ ब्रह्मयोनिस्तं ब्रह्मयोनिं ब्रह्मणो वाऽपरस्य योनिं स यदा चैवं पश्यति तदा स विद्वान्पश्यः पुण्यपापे बन्धनभूते कर्मणी समूले विधूय निरस्य दग्ध्वा निरञ्जनो निर्लेपो विगतक्लेशः परमं प्रकृष्टं निरतिशयं साम्यं समतामद्वयलक्षणं [3]द्वैतविषयाणि साम्यान्यतोऽर्वाञ्च्येवातोऽ[4]द्वयलक्षणमेतत्परमं साम्यमुपैति प्रतिपद्यते ॥३॥

जवीभावं क्षैप्र्यमापन्नः पूर्ववदित्यभेदेनेत्यर्थः ॥२॥३॥

सकता है; दूसरा नहीं, अज्ञानी जीव मानव देह में आकर न केवल प्रारब्ध अनुसार सुख एवं दुःख का भोग करता है; अपितु निरन्तर अज्ञान के वशीभूत हो देहाध्यास के कारण नूतन पाप-पुण्यों का भी संचय करता रहता है। जो अनेकों जन्म में पुनः दुख के हेतु हो जाते हैं। किन्तु आत्म तत्त्वदर्शी तत्त्वज्ञान से अज्ञान को नष्ट कर देह में आत्माध्यास को मिटा डालता है। फलस्वरूप उसके प्रारब्धातिरिक्त सम्पूर्ण सञ्चित कर्म नष्ट हो जाते हैं एवं कर्तृत्वाभिमान न रहने के कारण उसके शरीर से किये गये शुभाशुभ कर्म अदृष्ट को उत्पन्न नहीं करते। फलतः भोग से प्रारब्ध को नष्ट कर विदेह कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। यह इस मन्त्र का तात्पर्यार्थ है ॥३॥

जो यह प्राणों का प्राण परमेश्वर है, वही प्रकृत परमेश्वर ब्रह्मा से लेकर तुच्छ प्राणी पर्यन्त सम्पूर्ण भूतों के रूप में अनेक प्रकार से देदीप्यमान हो रहा है।—''सर्वभूतैः'' इस पद में तृतीया विभक्ति ''इत्थंभूतलक्षणे'' अर्थ में की गई। महर्षि पाणिनि ने ''इत्थंभूतलक्षणे'' २।३।२१ सूत्र बनाया इसका उदाहरण है ''जटाभिस्तापसः'' अर्थात् जैसे जटाओं से तपस्वी होना उपलक्षित होता है; वैसे ही सर्वभूतैः शब्द से परमेश्वर का सम्पूर्ण भूतों में स्थित होना लक्षित हो रहा है, अतएव भगवान् भाष्यकार ने परमेश्वर को सम्पूर्ण भूतों में स्थित सर्वात्मा होना कहा है। इस प्रकार सम्पूर्ण भूतस्थ परमात्मा को यही मैं हूँ, इस रीति से साक्षात् आत्मभावेन जो जान लेता है वह विद्वान् कहा जाता है। वह वाक्यार्थ-ज्ञानमात्र से अतिवादो नहीं होता। अन्य सबका अतिक्रमण करके बोलने वाले को अतिवादी कहते हैं। किन्तु इस प्रकार प्राणों के प्राण, परमात्मा को अपरोक्ष रूप से जो जानता है, वह अतिवादी नहीं होता। जब सम्पूर्ण विश्व को आत्मा ही समझ लिया और आत्मा से भिन्न कुछ उसे

---

१. पाघ्राध्माधेट्दृशःशइति कर्तरिशः इत्याशयेन व्युत्पादयति—पश्यतीतीति। २. रुक्मस्येति—रुक्मं कार्तस्वरमित्यमरः। ३. द्वैतविषयाणीति—भेदसमानाधिकरणानीत्यर्थः। तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वादिरूपाणीति यावत् ४. अद्वयलक्षणमिति—अनामरूपब्रह्माऽभिन्नत्वरूपमित्यर्थः।

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥४॥

[यह जो प्राणों का प्राण परमेश्वर है, वह सम्पूर्ण भूतों के रूप में विद्यमान है। इसे साक्षात्कार करके तत्त्वज्ञानी अतिवादी नहीं होता है, क्योंकि आत्मज्ञानी आत्मा से भिन्न वस्तु को देखता ही नहीं। यह आत्मा में ही क्रीड़ा करनेवाला, आत्मा में ही रमण करने वाला, क्रिया शील पुरुष, ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठतम माना गया है ॥४।]

किञ्च योऽयं प्राणस्य प्राणः पर ईश्वरो ह्येष प्रकृतः सर्वैर्भूतैर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तैः। [1]इत्थंभूतलक्षणे तृतीया। सर्वभूतस्थः सर्वात्मा सन्नित्यर्थः। विभाति विविधं दीप्यते। एवं सर्वभूतस्थं यः साक्षादात्मभावेनायमहमस्मीति [2]विजानन्विद्वान्वाक्यार्थज्ञानमात्रेण स भवते भवति न भवतीत्येतत्किमतिवाद्यतीत्य सर्वानन्यान्वदितुं शीलमस्येत्यतिवादी। यस्त्वेवं साक्षादात्मानं प्राणस्य प्राणं विद्वानतिवादी स न भवतीत्यर्थः। सर्वं यदात्मैव नान्यदस्तीति दृष्टं तदा किं ह्यसावतीत्य वदेत्। यस्य त्वपरमन्यद्दृष्टमस्ति स तदतीत्य वदति। अयं तु विद्वानात्मनोऽन्यन्न पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति। अतो नातिवदति। किञ्चाऽऽत्मक्रीड आत्मन्येव च क्रीडा क्रीडनं यस्य नान्यत्र पुत्रदारादिषु स आत्मक्रीडः। तथाऽऽत्मरतिरात्मन्येव च रती रमणं प्रीतिर्यस्य स आत्मरतिः। क्रीडा बाह्यसाधनसापेक्षा। रतिस्तु साधननिरपेक्षा बाह्यविषयप्रीतिमात्रमिति विशेषः। तथा क्रियावाञ्ज्ञानध्यानवैराग्यादिक्रिया यस्य सोऽयं क्रियावान्। समासपाठ आत्मरतिरेव

आत्मनि रतिरात्मरतिस्तत्पुरुषः सैव क्रियाऽस्यास्तीत्यात्मरतिक्रियावानिति मतुबेवैकः प्रतीयते कथमुक्तं बहुव्रीहिमतुबर्थयोरन्यतरोऽतिरिच्यत इति। सत्यमसमासपाठे द्वयोरर्थवत्त्वमासीत्समासपाठे

दीखता ही नहीं है तब भला वह तत्त्ववेत्ता किसे अतिक्रमण करके बोलेगा ? जिसे अपने से भिन्न दीखता है, वही उस भिन्न वस्तु का अतिक्रमण करके बोलता है, किन्तु यह विद्वान् अपने से भिन्न वस्तु को न देखता है, न स्वात्मभिन्न वस्तु को सुनता है और न जानता ही है। अतः वह आत्मवादी नहीं है। तात्पर्य यह है कि उसका बोलना आत्मा के विषय में ही होता है, अन्य वस्तु के विषय में नहीं। जब आत्मभिन्न वस्तु उसे दीखती ही नहीं, तो उसके विषय में वह कैसे बोल सकेगा ?

इतना ही नहीं, वह आत्मा में ही क्रीड़ा करने वाला है, अन्य पुत्रदारादि में क्रीड़ा नहीं करता। इसीलिये उसे आत्मक्रीड कहते हैं। वैसे ही वह तत्त्वज्ञानी आत्मा में ही रति अर्थात् प्रीति वाला है। इसीलिये उसे आत्मरति कहा गया है। बाह्य साधनों की अपेक्षा करके क्रीड़ा होती है; किन्तु रति बाह्य साधनों की अपेक्षा बिना ही होती है अर्थात् बाह्य विषय में प्रीति मात्र को रति कहते हैं। और उन विषयों में विशेष व्यापार को क्रीड़ा कहते हैं। यही क्रीड़ा और रति शब्द के अर्थ में भेद है। वैसे ही ज्ञान, ध्यान, वैराग्य आदि क्रिया वाले को क्रियावान् कहते हैं।

---

१. इत्थंभूतलक्षणे तृतीयेति-तथा च सर्वभूतज्ञाप्यविभानविशिष्ट इत्यर्थः। २. विजानन्निति—विजानातीत्यर्थः।

क्रियाऽस्य विद्यत इति बहुव्रीहिर्मतुबर्थयोरन्यतरोऽतिरिच्यते[1]। केचित्त्वग्निहोत्रादिकर्मब्रह्मविद्ययोः [2]समुच्चयार्थमिच्छन्ति। [3]तच्चैष ब्रह्मविदां वरिष्ठ इत्यनेन [4]मुख्यार्थवचनेन विरुध्यते। [5]न हि बाह्य[6]क्रियावानात्मरतिश्च भवितुं शक्तः कश्चिद्बाह्यक्रियाविनिवृत्तो ह्यात्मक्रीडो भवति, बाह्यक्रियात्मक्रीडयोर्विरोधात्। न हि तमःप्रकाशयोर्युगपदेकत्र स्थितिः सम्भवति। तस्मादसत्प्रलपितमेवैतदनेन ज्ञानकर्मसमुच्चयप्रतिपादनम्। "[7]अन्या वाचो विमुञ्चथ" "[8]संन्यासयोगात्" इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। [9]तस्मादयमेवेह क्रियावान्यो ज्ञानध्यानादिक्रियावान्सोऽभिन्नार्यमर्यादः संन्यासी य एवंलक्षणो नातिवाद्यात्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावान्ब्रह्मनिष्ठः स ब्रह्मविदां सर्वेषां वरिष्ठः प्रधानः ॥४॥

त्वन्यतरो मतुबतिरिच्यते विशिष्यते "[10]बाह्यक्रियानिवृत्तिलाभादित्यर्थः। एकदेशिव्याख्यामुद्भाव्य निराचष्टे—केचित्त्वित्यादिना। अनेन वचनेन ज्ञानकर्मसमुच्चयप्रतिपादनं क्रियत इत्येतदसत्प्रलपितमेवेति योजना ॥८॥

आत्मरति और क्रियावान् इन दोनों पदों का समास मान लेने पर आत्मरति ही इस तत्त्ववेत्ता की क्रिया है। ऐसा अर्थ करने पर वान् प्रत्यय का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है। अतः या तो बहुव्रीहि समास माना जाय या क्रियापद से मतुप् प्रत्यय किया जाय, दोनों में से एक को रखना होगा और दूसरा निरर्थक हो जायेगा। असमस्त पाठ पक्ष में मतुप् प्रत्यय की सार्थकता है किन्तु समस्त पाठ में मतुप् प्रत्यय निरर्थक हो जाता है। अर्थात् आत्मरति इस पद में बहुव्रीहि समास है, इससे भिन्न क्रियावान् पद स्वतन्त्र है, दोनों का समास नहीं है। इस प्रकार दोनों की सार्थकता हो जाती है। किन्तु समास पाठ में मतुप् प्रत्यय विशेष दिखायी पड़ता है। लाभ यह है कि उस तत्त्वज्ञानी में आत्म प्रीति से अतिरिक्त क्रिया निवृत्ति अर्थ का बोध होता है।

कुछ लोग उक्त दोनों पदों को स्वतन्त्र मानकर अग्निहोत्रादि कर्म तथा ब्रह्मविद्या का समुच्चय मानते हैं। वह आत्मरति भी है और साथ ही साथ अग्निहोत्रादि क्रियावाला भी है। किन्तु यह अर्थ 'एष ब्रह्मविदां वरिष्ठः" इस मुख्य अर्थ वाले वचन से विरुद्ध पड़ता है। ऐसा ज्ञान और कर्म का अनुष्ठान करने वाला पुरुष ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि बाह्यार्थ में क्रीड़ा और

१. अतिरिच्यत इति-अधिको भवति, निष्फलो व्यर्थो भवतीति यावत्। २. इच्छन्ति समासपाठमित्यादिः। समुच्चयरूपमर्थमिच्छतीति वार्थः। ३. तच्चेति—यथोक्तं समुच्चयवादिनां मतं चेत्यर्थः। ४. विशेष्यसमर्पकवाक्येनेत्यर्थः। यद्वा प्रधानत्वबोधकेन तेनेत्यर्थः। ५. विरोधमेव व्यनक्ति—न हीत्यादिना। ६. बाह्यक्रियावान्। ७. मु० उ० २-२-५। ८. मु० उ० ३-२-६। संन्यासेत्यादि—अनेन सत्त्वशोधनेऽपि कर्मानादरपूर्वकं संन्यासस्यैव प्रयोजकत्वसूचनादिति भावः। ९. तस्मादिति क्रियान्तरासम्भवादित्यर्थः। १०. बाह्येत्यादि—मतुपं बिना बहुव्रीहिणैवेति शेषः। यद्वा-अतिरिच्यत इत्यस्य-उत्कृष्यत इत्यर्थः। तत्र हेतुर्बाह्येत्यादिः। ननु-आत्मरतिरेव क्रियेति कर्मधारयादेव बाह्यक्रियानिवृत्तिलाभो न तु मतुपेति कथं तदुत्कर्षे तद्धेतुरिति चेत्तदा तत्पुरुषकर्मधारयघटितमतुबन्तं पदमतिरिच्यत इत्यर्थं गृहाण। नन्वत्रापि किमपेक्ष्यातिरिचनमिति चेत् केवलमतुबन्ताद्वा तत्पुरुषद्वन्द्वघटिततदन्ताद्वा बहुव्रीहिकर्मधारयघटिततदन्ताद्वेति निश्चिनु। बाह्यक्रियानिवृत्तेरुत्कृष्टत्वेनोक्तपदैकलभ्यत्वादिति। ननु यदर्थलाभो बहुव्रीहिणा स एव मतुपा चेत्कुतोऽन्यतरकरणेऽन्यतरातिरेक इति त्वनाशङ्कनीयं न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपत्तिकर इति न्यायेन बहुव्रीहिरेव न्याय्यत्वात्।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥५॥

[यह आत्मा सदा मिथ्या भाषण के त्यागरूप सत्य, मन और इन्द्रियों की एकाग्रतारूपी तप, यथार्थ आत्मदर्शन तथा ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त करने योग्य है । जिस आत्मा को दोष रहित यत्नशील संन्यासी देखते हैं, वह प्रकाशस्वरूप शुद्ध आत्मा शरीर के भीतर (हृदयाकाश में) रहता है ॥५॥]

अधुना सत्यादीनि भिक्षोः सम्यग्ज्ञानसहकारीणि साधनानि विधीयन्ते निवृत्तिप्रधानानि । सत्येनानृतत्यागेन मृषावदनत्यागेन लभ्यः प्राप्तव्यः । किञ्च तपसा हीन्द्रियमनएकाग्रतया "मनश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः" इति स्मरणात् । तद्ध्यनुकूलमात्मदर्शनाभिमुखीभावात्परमं साधनं तपो नेतरच्चान्द्रायणादि । एष आत्मा लभ्य इत्यनुषङ्गः सर्वत्र । [1]सम्यग्ज्ञानेन [2]यथाभूतात्मदर्शनेन ब्रह्मचर्येण मैथुनासमाचारेण । नित्यं सर्वदा नित्यं सत्येन नित्यं तपसा सम्यग्ज्ञानेनेति सर्वत्र नित्यशब्दोऽ[3]न्तर्दीपिकान्यायेनानुषक्तव्यः । [4]वक्ष्यति च—"न येषु जिह्ममनृतं न माया च" इति । कोऽसावात्मा य एतैः

सम्यग्ज्ञानसहकारीणीति । अत्र सम्यग्ज्ञानशब्देन वस्तुविषयावगतिफलावसानं वाक्यर्थज्ञान-

---

आत्मा में रति ये दोनों विरुद्ध बात एक साथ एक व्यक्ति में हो नहीं सकतीं । अतः कोई भी व्यक्ति बाह्य क्रिया से सर्वथा निवृत्त होने पर भी आत्मक्रीड़ हो सकता है, क्योंकि बाह्य क्रिया और आत्मक्रीड़ा में परस्पर विरोध है जैसे अन्धेरा और प्रकाश एक साथ एक स्थान में नहीं रह सकते । अतः उक्त वाक्य से ज्ञान-कर्म-समुच्चय का प्रतिपादन करना मिथ्या प्रलाप ही माना जायेगा । 'अन्य बातों को छोड़ दें' 'संन्यास योग से आत्मतत्त्व को जानता है' इत्यादि श्रुतियों से ज्ञानकर्म-समुच्चय का स्पष्ट निषेध किया गया है । अतः यहाँ पर क्रियावान् शब्द का यही अर्थ किया जायेगा, जो ज्ञान-ध्यान आदि क्रियावाला है और जो आर्य मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता ऐसा जो संन्यासी है—वही अतिवादी नहीं होता क्योंकि वह आत्मक्रीड़ है । आत्मरति, ज्ञान, ध्यान आदि क्रियावान् और वही सभी ब्रह्मज्ञानियों में वरिष्ठ यानी प्रधान है ॥४॥

अब भिक्षुक-साधकों के सम्यक्-ज्ञान के सहकारी रूप से निवृत्ति प्रधान सत्यादि साधनों का विधान करते हैं । मिथ्या भाषण का त्याग ही सत्य है । ऐसे अनृत के त्याग रूप सत्य से यह आत्मा प्राप्ति के योग्य है । 'मन और इन्द्रियों की एकाग्रता को ही श्रेष्ठ तप कहा गया है, इस स्मृति वाक्य से इन्द्रियों और मन की एकाग्रता को तप कहा गया है । क्योंकि यही तप आत्मदर्शनाभिमुख करने में श्रेष्ठ अनुकूल साधन कहा गया है । इससे भिन्न चान्द्रायण आदि व्रत आत्मदर्शन के अनुकूल नहीं हैं प्रत्युत शारीरिक कष्ट प्रद होने के कारण मानसिक विक्षेप के हेतु हैं । अतः वे आत्म दर्शन के प्रतिकूल हैं । ऐसे

---

१. सहकार्यं समर्पयति—सम्यग्ज्ञानेनेति । २. तद्व्याचष्टे यथेत्यादिना । ३. अन्तर्दीपिकेति यथा गृहोदरवर्तिदीपिकाऽऽलोकस्तत्स्थैः सर्वैर्घटादिवस्तुभिः सम्बध्यते तद्वत्साधनार्थकवाक्यान्तर्वर्तिनित्यशब्दः साधनार्थैः सर्वैः पदैः सम्बध्यत इत्यर्थः । ४. प्रश्न उ० १-१६ ।

साधनैर्लभ्य इत्युच्यते। अन्तःशरीरेऽन्तर्मध्ये शरीरस्य पुण्डरीकाकाशे ज्योतिर्मयो हि रुक्मवर्णः शुभ्रः शुद्धो यमात्मानं पश्यन्त्युपलभन्ते यतयो यतनशीलाः संन्यासिनः क्षीणदोषा क्षीणक्रोधादिचित्तमलाः स आत्मा नित्यं सत्यादिसाधनैः संन्यासिभिर्लभ्यत इत्यर्थः। न कादाचित्कैः सत्यादिभिर्लभ्यते। [1]सत्यादिसाधनस्तुत्यर्थोऽयमर्थवादः ॥३॥

मुच्यते। [2]अवगतिफलस्य स्वकार्येऽविद्यानिवृत्तौ सहकार्यपेक्षासम्भवात्। अतोऽपरिपक्वज्ञानस्य सत्यादीनां च परिपक्वविद्यालाभाय समुच्चय इष्यत एव। नैतावता भास्कराभिमतसिद्धिः। परिपक्वविद्यायाः सहकार्यपेक्षायां मानाभावात्। ततः [3]कर्मासंश्लेषश्रवणाद्देवादीनां कर्मविहीनानां मुक्तिश्रवणाच्चेति ॥४॥

ही तपसे यह आत्मा प्राप्त करने योग्य है 'एष आत्मा लभ्यः' इसका अन्वय सभी साधनों के साथ करना चाहिये। आत्मा का जैसा स्वरूप है, वैसे ही दर्शन को सम्यक् ज्ञान कहते हैं। अष्टधा मैथुन के अभाव को ब्रह्मचर्य कहते हैं। ऐसे सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्य से आत्मा प्राप्त करने योग्य है। नित्य पद का अर्थ सर्वकाल होता है। सार्वकालिक सत्य भाषण, सार्वकालिक तप, सार्वकालिक सम्यक् ज्ञान एवं सार्वकालिक ब्रह्मचर्य से यह आत्मा प्राप्त होता है। इस प्रकार अन्तर-दीपिका न्याय से नित्य शब्द का अन्वय सर्वत्र कर लेना चाहिये। 'जिन पुरुषों में कुटिलता, झूठ और कपट नहीं है,' ऐसा प्रश्नोपनिषद् में आगे कहेंगे। इन साधनों से जो आत्मा प्राप्त किया जाता है, वह कौन-सा है? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—कि शरीर के मध्यवर्ती हृदयाकाश में स्वर्ण के समान अत्यन्त शुद्ध ज्योतिर्मय पुरुष ही आत्मा है। जिस आत्मा को क्रोध आदि मानसिक विकार के रहित प्रयत्नशील संन्यासी ही उपलब्ध करते हैं। वह आत्मा सार्वकालिक सत्यभाषणादि साधनों से ही संन्यासियों द्वारा ही प्राप्त किया जाता है; न कि कदाचित्क सत्यादि साधनों से प्राप्त होता है, यह अर्थवाद सत्यादि साधनों की स्तुति के लिये है क्योंकि अपरिपक्व ज्ञानवाले पुरुष के लिये सत्यादि साधन अवश्य सहकारी हैं। परिपक्व विद्या को सहकारी की अपेक्षा होती ही नहीं है। इसीलिये ज्ञानियों में कर्म का असंश्लेष (अलेप) कहा गया है ॥५॥

सत्यवादी ही विजय को प्राप्त होता है; मिथ्यावादी नहीं। अतः सत्य का अर्थ सत्यवादी और अनृत का अर्थ मिथ्यावादी भाष्यकार ने किया है। क्योंकि पुरुष के आश्रय न लेने वाले स्वतन्त्र रूप से सत्य और मिथ्या की जय अथवा पराजय होती ही नहीं। सत्यवादी से मिथ्यावादी परास्त हो जाता है—ऐसा लोक में प्रसिद्ध है; उसके विपरीत नहीं होता अर्थात् मिथ्यावादी से सत्यवादी की पराजय लोक में नहीं सुनी गयी है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सत्य श्रेष्ठ सबल साधन है। शास्त्र से भी सत्य में श्रेष्ठ-साधनत्व जान पड़ता है। कैसे? क्योंकि यथार्थ भाषण व्यवस्थारूप सत्य से देवयान मार्ग विस्तृत होता है, यानी सदा प्रवृत्त होता है। जिस देवयान मार्ग से तत्त्वदर्शी ऋषि उस परतत्त्व को प्राप्त करते हैं, जो परवंचना-रूप कुहक, विपरीत अर्थ प्रकाशन रूप माया, वैभव के अनुसार दान न देना रूप शठता, मिथ्याभिमान रूप अहंकार, धर्म-ध्वजिपन रूप दंभ, अनुभव के विरुद्ध भाषण रूप

---

१. सत्यादीति—अत्र सत्यसाधनेति पाठो लिखितपुस्तके युक्तश्चासौ सत्यमेवेत्यादिमन्त्रावतारिका ह्ययमित्यवधेयम्।

२. अवगतिफलस्य—अपक्वज्ञानफलस्य साक्षात्कारस्येत्यर्थः। ३. कर्मेति—'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते'—इत्यश्लेषश्रवणादित्यर्थः। यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणामिति देवमुक्तिश्रवः। बृ०।

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाऽऽक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥६॥

[सत्यवादी ही विजय को प्राप्त करता है, मिथ्यावादी नहीं, सत्य भाषण से देवयान मार्ग विस्तीर्ण होता है, जिस मार्ग के द्वारा पूर्णकाम ऋषिलोग उस पद को प्राप्त करते हैं, जहाँ वह सत्य का उत्कृष्ट निधान विद्यमान है ॥६॥]

सत्यमेव सत्यवानेव जयति नानृतं नानृतवादीत्यर्थः। न[1] हि सत्यानृतयोः केवलयोः पुरुषानाश्रितयोर्जयः पराजयो वा सम्भवति। प्रसिद्धं लोके सत्यवादिनाऽनृतवाद्यभिभूयते न विपर्ययः। अतः सिद्धं सत्यस्य बलवत्साधनत्वम्। किञ्च शास्त्रतोऽप्यवगम्यते सत्यस्य साधनातिशयत्वम्। कथम्। सत्येन [2]यथाभूतवादव्यवस्थया पन्था देवयानाख्यो विततो विस्तीर्णः [3]सातत्येन प्रवृत्तः। येन पथा ह्याक्रमन्ति क्रमन्त ऋषयो [4]दर्शनवन्तः कुहकमायाशाठ्याहंकारदम्भानृतवर्जिताह्याप्तकामा विगततृष्णाः सर्वतो [5]यत्र यस्मिंस्तत्परमार्थतत्त्वं सत्यस्योत्तमसाधनस्य सम्बन्धि [6]साध्यं परमं प्रकृष्टं निधानं पुरुषार्थरूपेण [7]निधीयत इति निधानं वर्तते। तत्र च येन पथाऽऽक्रमन्ति स सत्येन वितत इति पूर्वेण सम्बन्धः ॥६॥

कुहकं परवञ्चनम्। अन्तरन्यथा गृहीत्वा बहिरन्यथा प्रकाशनं माया। शाठ्यं विभवानुसारेणाप्रदानम्। अहंकारो मिथ्याभिमानः। दम्भो धर्मध्वजित्वम्। अनृतमयथा[8]दृष्टभाषणम्। एतैर्दोषैर्वर्जिता इत्यर्थः ॥६॥

अनृत; ऐसे दोषों से रहित हैं एवं तृष्णाशून्य आप्तकाम पुरुष उस पद में आरूढ़ होते हैं, जहाँ पर परमार्थतत्त्व उत्तम साधन रूप सत्य का सम्बन्धी सर्वश्रेष्ठ निधान रहता है। पुरुषार्थ रूप से जिसका निधान किया जाता है, उसी को निधान कहते हैं। इस प्रकार जिस देवयान मार्ग से परम दिव्य स्थान को साधक प्राप्त करते हैं, वह सत्य से ही विस्तृत हो रहा है। ऐसा पूर्व वाक्य के साथ इसका सम्बन्ध कर लेना चाहिए ॥६॥

वह ब्रह्म क्या है और किस धर्म वाला है? इस पर कहते हैं—जिसकी प्राप्ति के साधन सत्यादि हैं, और जिसका प्रसंग चल रहा है, वह प्रकृत ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त होने के कारण बड़ा है यानो महान् है। वह स्वयं-प्रकाश इन्द्रियों का अविषय है। अतएव उसका चिन्तन नहीं हो सकता क्योंकि

---

१. लक्षणाबीजं वक्ति—न हीत्यादिना। २. यथाभूतवादव्यवस्थया 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः' इत्येवं रूपया व्यवस्थयेत्यर्थः। ३. सत्यवद्भिरेव सततं क्षुण्ण इत्यर्थः। न कदाचिदप्यनृतिभिरिति। ४. उपासका इत्यर्थः। ५. यत्र ब्रह्मलोकादिस्थान इति निधानस्य हिरण्यगर्भार्थपक्षेऽर्थः। परार्थपक्षे तु साधनत्वसम्बन्धेन सत्य इत्यर्थः। ६. सम्बन्धं स्फुटयति—साध्यमिति। ७. निधीयते इति-धनरत्नविद्धनिपुरुषार्थरूपेणेत्यर्थः। ८. दृष्टेति—तत्त्वं च शास्त्रतः प्रत्यक्षतो वा।

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥७॥

[वह प्रकृत ब्रह्म महान् दिव्य और अचिन्त्य रूप है, वह आकाशादि वस्तुओं से भी सूक्ष्मतर भासता है और वह अविवेकियों के लिये दूर से भी दूर तथा विवेकियों के लिये अत्यन्त समीप इसी देह में विद्यमान है। चेतन प्राणियों में इस देह के भीतर उनके बुद्धिरूप गुफा में छुपा हुआ विद्वानों को दिखाई देता है ॥७॥]

---

[1]किं तत्किंधर्मकं च तदित्युच्यते—बृहन्महच्च तत्प्रकृतं ब्रह्म सत्यादिसाधनं सर्वतो-व्याप्तत्वात्। दिव्यं स्वयंप्रभमनिन्द्रियगोचरमत एव न चिन्तयितुं शक्यतेऽस्य रूपमित्य-चि[2]न्त्यरूपम्। सूक्ष्मादाकाशादेरपि तत्सूक्ष्मतरं निरतिशयं हि सौक्ष्म्यमस्य सर्वकारण-त्वाद्विभाति विविधमादित्यचन्द्राद्याकारेण भाति दीप्यते। किंच दूराद्विप्रकृष्टदेशात्सुदूरे विप्रकृष्टतरे देशे वर्ततेऽविदुषामत्यन्तागम्यत्वात्तद्ब्रह्म। इह देहेऽन्तिके समीपे च विदुषा-मात्मत्वात् सर्वान्तरत्वाच्चाऽऽकाशस्याप्य[3]न्तरश्रुतेः। इह पश्यत्सु चेतनावत्स्वित्येतन्निहितं स्थितं दर्शनादिक्रियावत्त्वेन योगिभिर्लक्ष्यमाणम्। क्व गुहायां बुद्धिलक्षणायाम्। तत्र हि निगूढं लक्ष्यते विद्वद्भिः। तथाऽप्यविद्यया संवृतं सन्न लक्ष्यते तत्रस्थमेवाऽविद्वद्भिः ॥६॥

सत्यस्य निधानं यदुक्तं तत्पुनर्विशेष्यत इत्याह—किं तत्किंधर्मकं च तदिति ॥७॥

वह अचिन्त्य रूप है। आकाशादि सूक्ष्म पदार्थ से भी वह अत्यन्त सूक्ष्म है, क्योंकि इस ब्रह्म में निरति-शय सूक्ष्मता है। वह सबका कारण होने से आदित्य-चन्द्रादि विविध रूप में प्रतीत हो रहा है और दूर देश से भी अत्यन्त सुदूर प्रदेश में रहता है, क्योंकि अज्ञानियों के लिये वह अत्यन्त अगम्य है। फिर भी विद्वानों को आत्मरूप से प्रतीत होने के कारण अत्यन्त समीप इस देह में ही वह ब्रह्म है। सर्वान्तर होने के कारण आकाश के भी भीतर ब्रह्म विद्यमान् है, ऐसा श्रुति कहती है। यहाँ पर चेतनावान् प्राणियों मे (दर्शनादि क्रिया वाले के रूप में योगियों के द्वारा यह ब्रह्मतत्त्व स्थित देखा गया है। कहाँ पर स्थित है ?—इसका उत्तर श्रुति देती है कि बुद्धिरूप गुहा में स्थित है। यद्यपि तत्त्वज्ञानियों द्वारा बुद्धि रूप गुफा में वह ब्रह्म लक्षित होता है तथापि अविद्या से आवृत्त अन्तःकरण में वहाँ स्थित हुआ भी ब्रह्म अज्ञानियों को नहीं दीखता ॥७॥

उस ब्रह्म की उपलब्धि के असाधारण साधन फिर से कहे जाते हैं क्योंकि निरूप होने के कारण यह ब्रह्म किसी भी पुरुष से आँख के द्वारा गृहीत नहीं होता और अवाच्य होने के कारण वाणी से भी गृहीत नहीं होता, वैसे ही अन्य इन्द्रियों से भी वह नहीं जाना जाता है। सम्पूर्ण-फल-प्राप्ति के साधन रूप तप से भी वह गृहीत नहीं होता और जिसका महत्त्व अत्यन्त प्रसिद्ध है; ऐसे अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों द्वारा भी वह ब्रह्म गृहीत नहीं होता। फिर उस ब्रह्म के ग्रहण का साधन क्या है ? इस पर श्रुति कहती है कि विशुद्ध अन्तःकरण वाला साधक उस निराकार-निष्कल परमात्मा

---

१. किं तदिति किं स्वरूपमित्यर्थः। २. अचिन्त्यरूपमिति मनोऽगोचरमित्यर्थः। ३ अन्तरश्रुतेरिति य आकाश-मन्तरो यमयतीति श्रुतेरित्यर्थः।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥८॥

[(यह आत्मा नीरूप होने के कारण) नेत्र से नहीं देखा जाता, (अवाच्य होने के कारण) न वाणी से और न अन्य इन्द्रियों से, न तप या वैदिक अग्निहोत्रादि कर्म से ही गृहीत होता है। किन्तु जब बुद्धि की स्वच्छता से पुरुष विशुद्ध अन्तःकरणवाला होता है तभी वह ध्यान करता हुआ उस निरवयव आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है ॥८॥

पुनरप्यसाधारणं तदुपलब्धिसाधनमुच्यते । [1]यस्मान्न चक्षुषा गृह्यते [2]केनचिदप्यरूपत्वान्नापि गृह्यते वाचाऽनभिधेयत्वान्न चान्यैर्देवैरितरेन्द्रियैः । तपसः [3]सर्वप्राप्तिसाधनत्वेऽपि न तपसा गृह्यते । तथा वैदिकेनाग्निहोत्रादिकर्मणा प्रसिद्धमहत्त्वेनापि न गृह्यते । किं पुनस्तस्य ग्रहणे साधनमित्याह—ज्ञानप्रसादेनाऽऽत्मावबोधनसमर्थमपि स्वभावेन सर्वप्राणिनां ज्ञानं बाह्यविषयरागादिदोषकलुषितमप्रसन्नमशुद्धं सन्नावबोधयति नित्यं संनिहितमप्यात्मतत्त्वं मलावनद्धमिवाऽऽदर्शम्[4] । [5]विलुलितमिव सलिलम् । तद्यदेन्द्रियविषयसंसर्गजनितरागादिमलकालुष्यापनयनादादर्शसलिलादिवत्प्रसादितं स्वच्छं शान्तमवतिष्ठते तदा ज्ञानस्य प्रसादः स्यात् । तेन ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वो विशुद्धान्तःकरणो योग्यो ब्रह्म द्रष्टुं यस्मात्ततस्तस्मात्तु तमात्मानं पश्यते [6]पश्यत्युपलभते निष्कलं सर्वावयवभेदवर्जितं ध्यायमानः सत्यादिसाधनवानुपसंहृतकरण एकाग्रेण मनसा ध्यायमानश्चिन्तयन् ॥८॥

ज्ञानप्रसादेनेति । अत्र ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति व्युत्पत्त्या बुद्धिरुच्यते । ध्यायमानो ज्ञानप्रसादं लभते । ज्ञानप्रसादेनाऽऽत्मानं पश्यतीति क्रमो द्रष्टव्यः । संशयादिमलरहितस्य [7]प्रमाणज्ञानस्यैव तत्त्वसाक्षात्कारहेतुत्वाद्ध्यानक्रियायाः प्रमितिसाधनत्वाप्रसिद्धेरित्यर्थः ॥८॥

का चिंतन करता हुआ ज्ञान के प्रसाद से उसे प्रत्यक्ष अनुभव करता है। आत्मा को जानने में सभी प्राणियों का ज्ञान समर्थ होता हुआ भी स्वभाव से बाह्य विषय के रागादि दोष के कारण कलुषित हो रहा है। अतः वह ज्ञान अप्रसन्न है, अर्थात् अशुद्ध है। इसीलिये सदा सन्निहित भी आत्मतत्त्व को भी वह मलिन ज्ञान वैसे ही नहीं जान पाता है, जैसे मल से ढके हुये दर्पण के द्वारा मुख का प्रतिबिंब गृहीत नहीं होता, और जैसे चंचल जल में मुखप्रतिबिंब गृहीत नहीं होता।

---

१. ननु साधारणैरेवोपलब्धिसाधनैस्तदुपलब्धिर्भविष्यति किमित्यसाधारणं तदुच्यते अत आह यस्मादिति । यस्माच्चक्षुरादिभिर्न गृह्यते तस्मादसाधारणं तद्वक्तव्यमिति भावः । २. मनुष्यचक्षुषाऽग्राह्यं तद्देवचक्षुषा ग्रहीष्यत इति मा शङ्कीत्याह केनचिदपीति मनुष्येण देवादिनापि चेत्यर्थः । ३. सर्वेत्यादि तपो हि दुरतिक्रममित्यादिवचनादिति भावः । ४. आदर्शमिति दर्पणमुकुरादर्शावित्यमरेणास्य क्लीबत्वं नेष्टम् । ५. विलुलितमालोडितम् । ६. पश्यतीति मा चाक्षुषं ग्राहिज्ञानमित्याह—उपलभत इति साक्षादनुभवतीत्यर्थः ।
७. प्रमाणज्ञानस्येति परोक्षस्येत्यर्थः, अन्यथा साक्षात्काराऽभिन्नत्वेन हेतुहेतुमद्भावानुपपत्तिः । यद्वा साक्षात्कारस्य भग्नावरणचिदर्थत्वेऽपरोक्षस्यैवेत्यर्थः ।

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥९॥

[यह सूक्ष्म आत्मा (इस शरीर के भीतर ही) चित्त से जानने योग्य है, जिसमें प्राणापानादि भेद से पाँच प्रकार का प्राण प्रविष्ठ है। इन्द्रियों के सहित प्राण से प्रजावर्ग के सम्पूर्ण चित्त व्याप्त हैं। (क्योंकि लोक में प्रजा के सभी अन्तःकरण चेतनयुक्त प्रसिद्ध हैं) जिस चित्त के शुद्ध हो जाने पर यह आत्मा अपने विशेष रूप से प्रकाशित होने लग जाता है ॥९॥)

यमात्मानमेवं पश्यत्येषोऽणुः सूक्ष्मश्चेतसा विशुद्धज्ञानेन केवलेन वेदितव्यः। क्वासौ। यस्मिञ्शरीरे प्राणो वायुः पञ्चधा प्राणापानादिभेदेन संविवेश सम्यक्प्रविष्टस्तस्मिन्नेव शरीरे हृदये चेतसा ज्ञेय इत्यर्थः। कीदृशेन चेतसा वेदितव्य इत्याह——प्राणैः सहेन्द्रियैश्चित्तं सर्वमन्तःकरणं प्रजानामोतं व्याप्तं [१]येन क्षीरमिव [२]स्नेहेन काष्ठमिवाग्निना। [३]सर्वं हि प्रजानामन्तःकरणं चेतनावत्प्रसिद्धं लोके। यस्मिंश्च चित्ते क्लेशादिमलवियुक्ते शुद्धे विभवत्येष उक्त आत्मा विशेषेण [४]स्वेनाऽऽत्मना भवत्यात्मानं प्रकाशयतीत्यर्थः ॥९॥

बौद्धादेश्चित्तादौ चेतनत्वभ्रमदर्शनाच्चित्तं स्वस्मिन्स्वसंसर्गिणि च चैतन्याभिव्यञ्जकत्वे स्वभावत एव योग्यम्। ततश्चित्ते परमात्मनोऽभिव्यक्तिसम्भवाच्चेतसा ज्ञेयत्वमुच्यत इति सम्भावनार्थमाह— प्राणैः सहेन्द्रियैश्चित्तमिति। [५]ओतं चैतन्येन सर्वस्व तर्हि चित्ते किमिति ब्रह्म स्वत एवापरोक्षं न भवतीत्यत आह—यस्मिंश्च चित्त इति ॥९॥

किन्तु जब इन्द्रिय और विषयों के संसर्ग से उत्पन्न रागादि मलरूप कालिमा का नाश हो जाता है, तब वह ज्ञान प्रसन्न माना जाता है। ऐसे ज्ञान के प्रसाद से साधक आत्मतत्त्व को वैसे ही देखता है, जैसे शुद्ध दर्पण और शुद्ध जल में मुख का प्रतिबिम्ब गृहीत होता है। रागादि मल के हट जाने पर वह ज्ञान जब स्वच्छ और शान्त हो जाता है तब ज्ञान का प्रसाद कहा जाता है। ऐसे स्वच्छ और शान्त ज्ञान द्वारा विशुद्ध अन्तःकरण अधिकारी पुरुष ब्रह्म को देख पाता है। इसीलिये श्रुति में कहा है कि सम्पूर्ण अवयव विषय से रहित निष्कल परमात्मा का ध्यान करने वाला सत्यादि साधनयुक्त उपरत-इन्द्रियग्राम पुरुष एकाग्र मन से चिन्तन करता हुआ परमात्माका अपरोक्ष अनुभव करता है। ज्ञान शब्द का अर्थ बुद्धि है, उसकी स्वच्छता का साधन है—परमात्मा के स्वरूप का ध्यान। अतः संशयादि दोष से रहित प्रमाणज्ञान ही ब्रह्मतत्त्व साक्षात्कार का हेतु है; ध्यानक्रिया तत्त्वसाक्षात्कार का अन्तरंग हेतु नहीं है। वह तो केवल अन्तःकरण शुद्धिका कारण है; यह इसका तात्पर्यार्थ है ॥८॥

इस प्रकार जिस आत्मा को साधक देखता है यह आत्मा सूक्ष्म है; केवल विशुद्ध मन से जानने योग्य है। वह कहाँ रहता है? इस पर कहते हैं जिस शरीर में प्राण-अपान आदि भेद से पाँच प्रकार का प्राण वायु सम्यक् प्रकार से प्रविष्ट है। अर्थात् नख से शिखतक प्राण व्याप्त है। उस

---

१. येनेति चैतन्येनेत्यर्थः। २. स्नेहेन सर्पिषा। ३. तत्र प्रसिद्धिमनुकूलयति सर्वं हीत्यादिना। ४. स्वेनात्मनेति सच्चिदानन्दलक्षणेनेत्यर्थः। ५. यदि सर्वस्य चित्तं चैतन्येनौतं सर्वस्य तर्हि चित्ते किमितीत्यादि योज्यमपेक्षित-मध्याहृत्यावर्त्य चेति भावः।

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् ।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः ॥१०॥

इति तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥१॥

[वह विशुद्ध अन्तःकरण वाला आत्मज्ञानी अपने या दूसरे के लिये मन से जिस लोक की भावना करता है और जिन-जिन भोगों को चाहता है, वह उस-उस पित्रादि लोक को ही और उन्हीं भोग को प्राप्त करता है। अतः ऐश्वर्यकाम पुरुष आत्मज्ञानी की पूजा करे ॥१०॥]

॥ इति तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥

य एवमुक्तलक्षणं सर्वात्मानमात्मत्वेन प्रतिपन्नस्तस्य सर्वात्मत्वादेव सर्वाप्तिलक्षणफलमाह—यं यं लोकं पित्रादिलक्षणं मनसा संविभाति संकल्पयति मह्य[1]मन्यस्मै वा भवेदिति विशुद्धसत्त्वः क्षीणक्लेश आत्मविन्निर्मलान्तःकरणः कामयते यांश्च कामान्प्रार्थयते भोगांस्तं तं लोकं जयते प्राप्नोति तांश्च कामान्संकल्पितान्भोगान् । तस्माद्विदुषः सत्यसंकल्पत्वादात्मज्ञमात्मज्ञानेन [2]विशुद्धान्तःकरणं ह्यर्चयेत्पूजयेत्पादप्रक्षालनशुश्रूषानमस्कारादिभिर्भूतिकामो विभूतिमिच्छुः ॥१०॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥१॥

सगुणविद्याफलमपि निर्गुणविद्यास्तुतये प्ररोचनार्थमुच्यते—यं यमिति ॥१०॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्यटीकायां तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥१॥

शरीरस्थ हृदय में वह आत्मा मन से जानने योग्य है। कैसे मन से वह आत्मा जानने योग्य है ? इस पर श्रुति कहती है कि इन्द्रियों के सहित प्रजा के सम्पूर्ण अन्तःकरण जिस चेतन आत्मा से वैसे ही ओत-प्रोत हैं, जैसे घी से दुग्ध और जैसे अग्नि से काष्ठ व्याप्त है। क्योंकि प्रजा के संपूर्ण अन्तःकरण चेतनवाले हैं—ऐसा लोक में प्रसिद्ध। साथ ही जिस चित्त में अविद्यादि क्लेशरूप मल नहीं है, ऐसे विशुद्ध चित्त में ही यह पूर्वोक्त आत्मा विशेषतः अपने रूप से प्रकाशित होता है अर्थात् सर्वथा क्लेशादि मल से रहित शुद्ध अन्तःकरण ही आत्मा को प्रकाशता है तात्पर्य यह है कि कर्म, उपासना और ब्रह्मध्यान आदि साधनों से शुद्ध अन्तःकरण में ही परमात्मा की अभिव्यक्ति होती है, मलीन अन्तःकरण में नहीं ॥९॥

इस प्रकार उक्त लक्षण वाले सर्वात्मा को जिसने आत्मरूप से जान लिया है, उसे सर्वभाव की प्राप्तिरूप फल मिलता है। क्योंकि परमात्मा सबकी आत्मा है, उसी सर्वात्मा को जिसने आत्मभाव से अपरोक्ष कर लिया है, उसे सर्वात्मभाव की प्राप्ति स्वभाव से हो जाती है। इस प्रकार निर्गुण विद्याकी स्तुति द्वारा निर्गुण विद्या में प्रवृत्ति कराने के लिए सगुण विद्या का फल भी श्रुति बतलाती है, कि पितृ आदि रूप-जिस जिस लोक का मन से मुझे प्राप्तःहोवे ऐसा संकल्प यानि विशुद्ध अन्तःकरण क्षीण-क्लेश

---

१. अन्यस्मै स्वभक्तायेत्यर्थः । २. विशुद्धान्तःकरणमिति—आत्मज्ञानैकभासुरमिति भावः ।

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥१॥

[वह आत्मज्ञानी उस परब्रह्म को जानता है जो सम्पूर्ण आधिदैविकादि जगत् का आश्रय है और शुद्ध रूप से प्रकाशित हो रहा है। ऐसे आत्मदर्शी पुरुष की जो निष्काम भाव से उपासना करते हैं, वे धीर पुरुष शरीर के कारण प्रसिद्ध इस शुक्र का अतिक्रमण कर जाते हैं। अर्थात् उन्हें फिर शरीर धारण करने के लिये योनि में जाना नहीं पड़ता, वे मुक्त हो जाते हैं ॥१॥]

ततः पूजार्ह एवासौ यस्मात्स वेद जानातीत्येतद्यथोक्तलक्षणं ब्रह्म परममुत्कृष्टं धाम सर्वकामानामाश्रयमास्पदं यत्र यस्मिन्ब्रह्मणि धाम्नि विश्वं समस्तं जगन्निहितमर्पितं यच्च स्वेन ज्योतिषा भाति शुभ्रं शुद्धम् । तमप्येवमात्मज्ञं पुरुषं ये ह्यकामा विभूतितृष्णावर्जिता मुमुक्षवः सन्त उपासते 'परमिव सेवन्ते ते शुक्रं नृबीजं यदेतत्प्रसिद्धं शरीरोपादानकारणमतिवर्तन्त्यतिगच्छन्ति धीरा धीमन्तो न पुनर्योनिं प्रसर्पन्ति "न पुनः क्वचिद्रतिं करोति" इतिश्रुतेः । अतस्तं पूजयेदित्यभिप्रायः ॥१॥

॥१॥

आत्मज्ञानी जिन-जिन भोगों की कामना करता है उन संकल्पित भोगों और उन-उन लोकों को सहज ही प्राप्त कर लेता है; क्योंकि विद्वान सत्य-संकल्प होता है। अतः आत्मज्ञान द्वारा सर्वथा शुद्ध अन्तःकरणवाले आत्मज्ञानी की पादप्रक्षालन, शुश्रूषा, नमस्कार आदि द्वारा विभूति को चाहनेवाला पुरुष अवश्य पूजन करे। इससे यह सिद्ध हुआ कि तत्त्वज्ञानी निःसंदेह सबका पूजा-पात्र होता है। पूजा से उसे प्रसन्न कर लेने पर ऐहिक और आमुष्मिक यथेष्ट भोगों को ऐश्वर्य के इच्छुक पुरुष सहज में प्राप्त कर लेता है ॥१०॥

तृतीय मुण्डक द्वितीय खण्ड ❀

क्योंकि संपूर्ण इच्छाओं का एकमात्र आश्रम, सर्वोत्कृष्ट यथोक्तलक्षण ब्रह्मधाम को कहा गया है। जिस ब्रह्मधाम में संपूर्ण जगत् निहित यानी अर्पित है, और जो स्वयं प्रकाश होने से अत्यन्त शुद्ध प्रतीत होता है। इस ब्रह्म को वह तत्त्वज्ञानी जानता है। इस प्रकार आत्मस्वरूप परमात्मतत्त्व को जानने वाले उस आत्मज्ञानी की इस लोक और परलोक की संपूर्ण विभूतियों की तृष्णा का परित्याग करके जो मुमुक्षु उसे परमेश्वर के समान उपासना करते हैं; वे धीर पुरुष शरीर के उपादान कारण इस प्रसिद्ध शुक्र यानी देह के कारण नृबीज को अतिक्रमण कर जाते हैं। तात्पर्य यह है कि वे भी तत्त्वज्ञानी होकर पुनर्योनि को प्राप्त नहीं करते। 'वह फिर कहीं रति नहीं करता' इस श्रुति से भी यही बात सिद्ध होती है। अतः मोक्षाभिलाषी तत्त्वज्ञानी की पूजा करे। यह इसका अभिप्राय है ॥१॥

मोक्षाभिलाषी को संपूर्ण कामनाओं का त्याग करना चाहिये। कामना का त्याग ही उसके लिये प्रधान साधन है। इस बात को आगे का मंत्र बतलाता है। जो पुरुष इस लोक और परलोक के अभीष्ट

---

१. परमिवेति-ब्रह्मेवेत्यर्थः ।

कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥२॥

[जो पुरुष (दृष्टादृष्ट) विषयों के गुणों का चिन्तन करता हुआ उनकी इच्छा करता है वह उन कामनाओं के कारण उनकी प्राप्ति के लिए जहाँ-तहाँ जन्म लेता है। किन्तु (परमार्थतत्त्व के विज्ञान से) पूर्णकाम, कृतकृत्य पुरुष की सभी कामनाएँ इसलोक में ही लीन हो जाती हैं ॥२॥]

मुमुक्षोः कामत्याग एव प्रधानं साधनमित्येतद्दर्शयति । कामान्यो दृष्टादृष्टेष्टविषयान्कामयते मन्यमानस्तद्गुणांश्चिन्तयानः प्रार्थयते स तैः कामभिः कामैर्धर्माधर्मप्रवृत्तिहेतुभिर्विषयेच्छारूपैः सह जायते तत्र तत्र । [1]यत्र यत्र विषयप्राप्तिनिमित्तं कामाः कर्मसु पुरुषं नियोजयन्ति तत्र तत्र तेषु तेषु विषयेषु तैरेव कामैर्वेष्टितो जायते । यस्तु परमार्थतत्त्वविज्ञानात्पर्याप्तकाम आत्मकामत्वेन परिसमन्तत आप्ताः कामा यस्य तस्य पर्याप्तकामस्य कृतात्मनोऽ[2]विद्यालक्षणाद[3]पररूपाद[4]पनीय स्वेन परेण रूपेण कृत आत्मा विद्यया यस्य तस्य कृतात्मनस्त्विहैव तिष्ठत्येव शरीरे सर्वे धर्माधर्मप्रवृत्तिहेतवः प्रविलीयन्ति विलयमुपयान्ति नश्यन्तीत्यर्थः । कामास्तज्जन्म[5]हेतुविनाशान्न जायन्त इत्यभिप्रायः ॥२॥

परमार्थतत्त्वविज्ञानादिति । **विषयेषु यथास्थितदोषदर्शनात्पर्याप्तकामः क्षीणरागो [6]विरुद्धलक्षणयाऽऽ[7]त्मकामस्याऽऽत्मबुभुत्सयैव वशीकृतचित्तस्य विषयेभ्यः कामा निवृत्ता एव भवन्तीत्यर्थः । [8]सामर्थ्यादवगम्यते [9]स्वहेतुविनाशात्पुनः कामा न जायन्त इति [10]जातानां ज्ञानं विनाऽपि क्षयसम्भवादित्यर्थः ॥२॥**

विषय-भोगों के गुणों का चिंतन करता हुआ कामना करता है, वह धर्म एवं अधर्म में प्रवृत्ति के हेतुभूत विषयों की इच्छा रूप कामनाओं के साथ उन-उन लोकों में तथा योनियों में जन्म लेता है; जहाँ-जहाँ विषय भोग की प्राप्ति की कामना वाले उस पुरुष को इच्छायें नियुक्त करती हैं अर्थात् कामना के वशीभूत हो उन कामनाओं की पूर्ति के लिये लौकिक तथा वैदिक कर्मों में इच्छायें उसे लगा देती हैं उन कामनाओं से घिरा हुआ वह सांसारिक जीव उन-उन विषयों की प्राप्ति के लिये तदनुरूप लोक एवं शरीर में जन्म लेता है। किन्तु जो परमार्थतत्त्व के अपरोक्ष अनुभव से पूर्णकाम हो चुका है ऐसे कृतात्मा की संपूर्ण कामनायें इस वर्तमान शरीर में ही विलीन अर्थात् नष्ट हो जाती हैं; आत्मकामना से ही संपूर्ण कामनाओं की भली प्रकार से पूर्ति हो सकती है। इसलिये आप्तकाम पुरुष ही पर्याप्त काम कहा गया है। अविद्या लक्षण अपर रूप संसार से यानो देहत्रय से हटकर ब्रह्मस्वरूप निजरूप से तत्त्वज्ञान द्वारा जो कृतार्थ हो चुका है। उसे कृतात्मा कहते हैं। धर्म एवं अधर्म में प्रवृत्ति का एकमात्र

---

१. यत्र तत्रेति-यद्यद्विषयप्राप्त्यर्थमित्यर्थः । २. अविद्यालक्षणादाविद्यकात् । ३. अपररूपादतात्त्विकरूपादित्यर्थः । ४. अपनीयेति-विविच्येति यावत् । ५. हेतुरविद्या । ६. विरुद्धेति-पर्याप्तस्य स्वविरुद्धक्षीणे लक्षणा तयेत्यर्थः । ७. लक्षणाबीजमाह-आत्मकामस्येत्यादिना । ८. ननु प्रविलीयन्तीति विनाशपदं न जायन्त इति जन्माभावपरं कुत इत्याशङ्क्याह—सामर्थ्यादवगम्यत इति । ९. किं तदाह-स्वेत्यादिना । १०. सामर्थ्यं समर्थयते-जातानामित्यादिना ।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥३॥

[प्रकृति परमपुरुषार्थ के साधनभूत यह आत्मा वेद-शास्त्र के पुष्कल प्रवचन से प्राप्त होने योग्य नहीं है और न ग्रन्थधारण शक्तिरूप मेधा से तथा अधिक शास्त्र श्रवण से ही मिल सकता है, किन्तु वह विद्वान् जिस परमात्मा को प्राप्त करना चाहता है, उस से ही यह आत्मा लभ्य है। यह आत्मा उसके समक्ष अपनी अविद्या से आच्छन्न अपने स्वरूप को प्रकाशित कर देता ॥३॥]

यद्येवं सर्वलाभात्परम आत्मलाभस्त[१]ल्लाभाय प्रवचनादय उपाया बाहुल्येन कर्तव्या इति प्राप्त इदमुच्यते । योऽयमात्मा व्याख्यातो यस्य लाभः परः पुरुषार्थो नासौ वेद-शास्त्राध्ययनबाहुल्येन प्रवचनेन लभ्यः । तथा न मेधया ग्रन्थार्थधारणशक्त्या । न बहुना श्रुतेन नापि भूयसा श्रवणेनेत्यर्थः । केन तर्हि लभ्य इत्युच्यते । यमेव परमात्मानमेवैष विद्वान्वृणुते प्राप्तुमिच्छति तेन वरणेनैष परमात्मा लभ्यो [२]नान्येन साधनान्तरेण । नित्यलब्धस्वभावत्वात् । कीदृशोऽसौ विदुष आत्मलाभ इत्युच्यते । तस्यैष आत्माऽविद्यासंछन्नां स्वां परां तनुं स्वात्मतत्त्वं स्वरूपं विवृणुते प्रकाशयति प्रकाश इव घटादिर्विद्यायां सत्यामाविर्भवतीत्यर्थः । तस्मादन्यत्यागेनाऽऽत्मलाभप्रार्थनैवाऽऽत्मलाभसाधनमित्यर्थः ॥३॥

न बहुना श्रुतेनेति । [३]उपनिषद्विचारव्यतिरिक्तेनेत्यर्थः । तेन वरणेनेति कथं व्याख्यातं यत्तदोर्भिन्नार्थत्वं ? साधनविवक्षायाः प्रस्तुतत्वादित्यर्थ[४] ब्रूमः । परमात्माऽस्मीत्यभेदानुसंधानं वरणम् । तेन वरणेनैष आत्मा लभ्यो भवति । बहिर्मुखेन तु शतशोऽपि श्रवणादौ क्रियमाणे न लभ्यते । अतः परमात्माऽस्मीत्यभेदानुसंधानं परमात्मभजनं पुरस्कृत्यैव श्रवणादि संपादनीयमिति भावः । अथवाऽयमेव परमात्मानं वृणुते तेन परमात्मना मुमुक्षुरूपव्यवस्थितेन वरणेनाभेदानुसंधानलक्षणेन प्रार्थनेन [५]कृत्वा लभ्यः परमात्मैव मुमुक्षुरूपव्यवस्थित इत्यभेदानुसंधानेनैव लभ्यो न कर्मणेत्यर्थः ॥३॥

कारण कामनायें हैं। वे सम्पूर्ण कामनायें पर्याप्तकाम कृतात्मा पुरुष के इस वर्तमान देह में हीं नष्ट हो जाती है। अतः जन्म के हेतुभूत कर्म एवं उसके कारण कामनाओं के सर्वथा विनाश हो जाने से उस तत्त्ववेत्ता में कामनायें उत्पन्न होतीं ही नहीं हैं। अतएव तत्त्वज्ञानी का पुनर्जन्म नहीं होता। यह इसका अभिप्राय है ॥२॥

इस प्रकार यदि सभी लाभ से आत्मलाभ श्रेष्ठ है तो आत्मलाभ के लिए प्रवचन आदि साधन विशेष रूप से करना चाहिए। ऐसा प्राप्त होने पर श्रुति यह कहती है कि जो यह आत्मा बतलाया गया जिसकी प्राप्ति परम पुरुषार्थ का हेतु है। यह प्रकृत आत्मा वेदशास्त्र के अध्ययन बाहुल्य रूप प्रवचन से प्राप्त होने योग्य नहीं हैं। दिन-रात वेद-शास्त्रों का अध्ययन करना ही प्रवचन कहा गया है। ऐसे प्रवचन से वह आत्मा प्राप्त नहीं हो सकता। वैसे ही ग्रन्थ के अर्थ को धारण करने की शक्ति का नाम मेधा है। ऐसी

---

१. तल्लाभायेति-तर्हीति शेषः २. नान्येन साधनान्तरेणेति-साधनान्तरस्यान्यत्वमनात्मविषयत्वमित्यवधेयम् ।
३. श्रवणं हि विचारस्तत आह उपनिषद्विचारेति । ४. इत्यर्थमिति तेनेत्यस्य वरणेतेत्यर्थमित्यर्थः । ५. प्रार्थनस्य करणत्वसूचनायैव कृत्वेति वाचो युक्तिरित्यवधेयम् ।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाऽप्यलिङ्गात् ।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥४॥

[यह आत्मा आत्मनिष्ठाजनित शक्ति से हीन पुरुष द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है और न पुत्रादि में आसक्तिरूप प्रमाद से ही लक्ष्य है । अथवा न संन्यास रहित तपस्या से ही यह प्राप्तव्य है । किन्तु जो विद्वान् इन उपायों से उस प्राप्ति के योग्य आत्मतत्त्व को जानने का प्रयत्न करता है निश्चय उसका यह आत्मा ब्रह्मधाम में सम्यक् रूप से प्रविष्ट हो जाता है ॥४॥

आत्मप्रार्थनासहायभूतान्येतानि च साधनानि बलाप्रमादतपांसि लिङ्गयुक्तानि संन्यास-सहितानि । यस्मादयमात्मा बलहीनेन बलप्रहीणेनाऽऽत्मनिष्ठाजनितवीर्यहीनेन न लभ्यो नापि लौकिकपुत्रपश्वादिविषयसङ्गनिमित्तप्रमादात् । तथा तपसो वाऽप्यलिङ्गाल्लिङ्ग-रहितात् । तपोऽत्र ज्ञानम् । लिङ्गं संन्यासः संन्यासरहिताज्ज्ञानान्न लभ्यत इत्यर्थः । एतैरु-पायैर्बलाप्रमादसंन्यासज्ञानैर्यतते तत्परः सन्प्रयतते यस्तु विद्वान्विवेक्यात्मवित्तस्य विदुष एष आत्मा विशते संप्रविशति ब्रह्मधाम ॥४॥

वीर्यमिति (मत्र) मिथ्याज्ञानानभिभाव्यतालक्षणोऽतिशयः । अलिङ्गादिति कथम् ? इन्द्र-जनकगार्गीप्रभृतीनामप्यात्मलाभश्रवणात् । सत्यम् । संन्यासो नाम सर्वत्यागात्मकस्तेषामपि [3]स्वत्वाभि-

---

मेधा से वह आत्मा प्राप्त नहीं हो सकता और न अधिकाधिक श्रवण करने से ही वह आत्मा प्राप्त हो सकता है, तो फिर किस उपाय से वह आत्मा प्राप्त हैं ? ऐसी आकांक्षा होने पर श्रुति कहती है कि जिस परमात्मा का यह विवेक आदि साधन संपन्न साधन प्राप्त करना चाहता है, उस वरणरूप प्रार्थना से ही यह परमात्मा प्राप्त हो सकता है, अन्य साधनों से नहीं, क्योंकि वह नित्य प्राप्त स्वरूप है । उक्त साधक को किस प्रकार का यह आत्मलाभ होता है ? ऐसी आकांक्षा होने पर श्रुति कहती है कि आत्म प्राप्ति की इच्छा वाले साधक के सामने यह परमात्मा अविद्या से आवृत्त अपने परमार्थ स्वरूप को वैसे ही प्रकाशित कर देता है, जैसे घटादि विषयाकार वृत्ति में घटादि विषय आविर्भूत हो जाते हैं, अर्थात् प्रकाशित हो जाते हैं । अतः अन्य बाह्य साधनों का परित्याग कर आत्मलाभ की प्रार्थना ही आत्मप्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है । इस मंत्र में उपनिषद् से भिन्नविषयों के श्रवण का ही निषेध किया है; उपनिषद श्रवण का नहीं एवं उपनिषद् के अतिरिक्त ग्रन्थार्थ धारण की शक्ति तथा अध्ययन का निषेध किया गया है । अतः शमदमादि साधन संपन्न पुरुष "अहं ब्रह्मास्मि" इस प्रकार अनुसंधान रूप परमात्मभक्ति पूर्वक वेदान्त का श्रवणादि संपादन करे । अभेदानुसंधान पूर्वक श्रवण को ही इस मन्त्र में प्रार्थना शब्द से कहा गया है । और ऐसे अनुसंधान को ही परमात्मप्राप्ति का सर्वोत्तम साधन कहा गया है ॥३॥

उक्त आत्म प्रार्थना के सहायक बल, प्रमाद, त्याग और लिङ्गयुक्त तपरूप साधन बतलाये गये हैं । अतः वह आत्मा आत्मनिष्ठा जनित सामर्थ्य से शून्यरूप बलहीन व्यक्ति द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है और न लौकिक पुत्र-पशु आदि विषयों में आसक्ति के कारण प्रमाद से ही प्राप्त हो सकता है । वैसे ही लिङ्ग रहित केवल तप से भी आत्मा प्राप्त नही हो सकता । यहां पर ज्ञान को तप और संन्यास कोलिङ्ग

---

१. आत्मनि निष्ठा श्रवणादि लक्षणोऽनन्यव्यापारस्तज्जनितेत्यर्थः । २. आत्मनिष्ठाप्रच्युतिलक्षणादित्यर्थः । ३. स्वत्वा-भिमानाभावादिति—यस्य मे नास्ति किंचनेति ह्युक्तम् ।

सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः ।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाऽऽविशन्ति ॥५॥

[इस आत्मतत्त्व को सम्यक् प्रकार से जानकर आत्मदर्शी ऋषिगण ज्ञान से तृप्त, कृतकृत्य, वीतराग और उपरत इन्द्रिय हो जाते हैं। वे धीर पुरुष उस सर्वव्यापक ब्रह्म को सर्वत्र प्राप्त कर (प्रारब्ध क्षय होने पर मृत्यु काल में समाहितचित्त होकर उपाधि से अपरिच्छिन्न) सर्वरूप ब्रह्म में ही प्रवेश कर जाते हैं (जैसे घट के फूट जाने पर घटाकाश महाकाश में लीन हो जाता है) ॥५॥]

कथं ब्रह्म संविशत इत्युच्यते । संप्राप्य समवगम्यैनमात्मानमृषयो दर्शनवन्तस्तेनैव ज्ञानेन तृप्ता न बाह्येन तृप्तिसाधनेन शरीरोपचयकारणेन । कृतात्मानः परमात्मस्वरूपेणैव निष्पन्नात्मानः सन्तः । वीतरागा विगतरागादिदोषाः । प्रशान्ता उपरतेन्द्रियाः । त एवंभूताः सर्वगं सर्वव्यापिनमाकाशवत्सर्वतः सर्वत्र प्राप्य नोपाधिपरिच्छिन्नेनैकदेशेन । किं तर्हि तद्ब्रह्मैवाद्वयमात्मत्वेन प्रतिपद्य धीरा अत्यन्तविवेकिनो युक्तात्मानो नित्यसमाहितस्वभावाः सर्वमेव समस्तं शरीरपातकालेऽप्याविशन्ति भिन्ने घटे घटाकाशवदविद्याकृतोपाधिपरिच्छेदं जहति । एवं ब्रह्मविदो ब्रह्मधाम प्रविशन्ति ॥५॥

मानाभावादस्त्येवाऽऽन्तरः संन्यासो बाह्यं तु लिङ्गमविवक्षितम् "न लिङ्गं धर्मकारणम्" इति स्मरणात्, 'नैष्कर्म्यसाहित्यं तु विवक्षितम्' ॥४॥५॥

शब्द से कहा गया है अर्थात् संन्यास रहित ज्ञान से यह आत्मा प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु इन प्रमाद, त्याग तथा संन्यास युक्त ज्ञानरूप साधनों के द्वारा तत्पर हुआ विवेकी साधक जब प्रयत्न करता है तो ऐसे विद्वान साधक का यह आत्मा ब्रह्म ध्यान में सम्यक् प्रकार से प्रवेश प्राप्त कर लेता है इन पूर्वोक्त साधनों द्वारा प्रयत्नशील विवेकादि साधन सम्पन्न ब्रह्मात्मैक्य स्थिति रूप ब्रह्मधाम को सहज में प्राप्त कर लेता है ॥४॥

किस प्रकार ब्रह्म में प्रवेश करता है ? ऐसी आकांक्षा होने पर श्रुति कहती है कि इस आत्मा को सम्यक् प्रकार से जानकर तत्त्वदर्शी ऋषि उस सम्यक् ज्ञान से ही तृप्त हो जाते हैं। शरीरवृत्ति के कारण किसी बाह्यतृप्ति के साधनों की अपेक्षा नहीं रह जाती । परमात्मस्वरूप से ही अपने आपको जानने के कारण वे कृतात्मा हो चुके हैं रागादि दोष मिट जाने के कारण वे वीतराग हैं; एवं विषयों की इन्द्रियों से उपरत हो जाने के कारण प्रशान्त हैं। तत्त्ववेत्ता सभी ओर से सर्वत्र आकाश के समान व्यापक परमात्मा को प्राप्त कर सर्वरूप हो जाते हैं। वे उपाधि से परिच्छिन्न एकदेशेन

१. एवकारार्थमाह—अपीति । समस्तमपीत्यन्वयः ।

२. न लिङ्गं धर्मकारणमिति-क्वचिदन्तरेणापि लिङ्गं धर्मानुष्ठानसंभवाल्लिङ्गस्यासार्वत्रिकत्वाभिप्रायमेतत्सर्वथाऽकारणत्वे तद्विधानानुपपत्तेः । न च व्यवहारार्थमेव तत, धर्मानुष्ठानमुद्दिश्यैव सलिङ्गाश्रमविधानात् । व्यवहारमात्रार्थत्वे चात्र परमार्थोद्देश्ये परामृश्यत्वात्तन्मात्रार्थस्य नामकरणादेरत्राविधानात्तस्य स्मृतिपुराणादिविषयत्वात्तस्य चेह तपसो वाप्यलिङ्गादेतैरुपायैरिति विधित्सितत्वात् । मुख्यानां वैराग्यादिसाधनानामुद्बोधकत्वाद्वा लिङ्गस्य गौणत्वाभिप्रायमेव तत्, नतु धर्मत्वसामानाधिकरण्येनाप्यहेतुत्वाभिप्रायं लिङ्गविधिवैयर्थ्यादित्यवधेयम् । वैयर्थ्यादिति तदापत्तेरित्यर्थः । ३. काम्यनिषिद्धवर्जनं नैष्कर्म्यम् । ४. मु. उ. ३.२. ४-५ ।

**वेदान्तविज्ञानसुनिश्चतार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥६॥**

[वेदान्त के विचार से उत्पन्न विज्ञान के द्वारा जिन्होंनेज्ञातव्य परमात्मा का भली प्रकार से निश्चय कर लिया है । वे (ब्रह्मनिष्ठा स्वरूप) संन्यास योग से युक्त विशुद्धसत्त्व पुरुष ब्रह्मलोक में शरीर त्यागते समय अत्यन्त उत्कृष्ट, अमरणधर्मा ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेते हैं और फिर वे सभी ओर से मुक्त हो जाते हैं ॥६॥]

किञ्च वेदान्तजनितविज्ञानं वेदान्तविज्ञानं तस्यार्थः [१]परमात्मा [२]विज्ञेयः सोऽर्थः सुनिश्चितो येषां ते वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः । ते च संन्यासयोगात्सर्वकर्मपरित्याग-लक्षणयोगात्केवलब्रह्मनिष्ठास्वरूपाद्योगाद्यतयो यतनशीलाः शुद्धसत्त्वाः शुद्धं सत्त्वं येषां संन्यासयोगात्ते शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोकेषु । संसारिणां ये मरणकालास्ते[३]ऽपरान्तास्तान-पेक्ष्य मुमुक्षूणां संसारावसाने देहपरित्यागकालः परान्तकालस्तस्मिन्परान्तकाले साधकानां बहुत्वाद्ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक एकोऽप्यनेकवद्दृश्यते प्राप्यते वा । अतो बहुवचनं ब्रह्मलोकेष्विति ब्रह्मणीत्यर्थः । परामृताः परममृतममरणधर्मकं ब्रह्माऽऽत्मभूतं येषां ते परामृता जीवन्त एव ब्रह्मभूताः परामृताः सन्तः परिमुच्यन्ति परिसमन्तात्प्रदीपनिर्वाण-वद्घटाकाशवच्च निवृत्तिमुपयान्ति । परिमुच्यन्ति परिसमन्तान्मुच्यन्ते सर्वे न देशान्तरं गन्तव्यमपेक्षन्ते ।

प्रदीपस्य वर्तिकृतावच्छेदध्वंसे यथा तेजःसामान्यतापत्तिस्तद्वदित्याह—प्रदीपनिर्वाणवदिति ।

परमात्मा को प्राप्त नहीं करते किन्तु वे अद्वय ब्रह्म को ही आत्मरूप से जानकर अत्यन्त विवेकी नित्य समाहित स्वभाव वाले धीर पुरुष इस वर्तमान शरीर पात काल में भी सर्वात्मा परमात्मा में ही प्रवेश करते हैं । जैसे घड़े के नष्ट हो जाने पर घटाकाश महाकाश में प्रविष्ट हो जाता है वैसे ही अविद्याकृत स्थूल-सूक्ष्म शरीर रूप उपाधि परिच्छेद को वह तत्त्ववेत्ता छोड़ देते हैं । इस प्रकार ब्रह्म ज्ञानी ब्रह्म धाम में सम्प्रविष्ट हो जाते हैं । जैसे कोई बाहर से चल कर गृह में प्रवेश करता हो, उस प्रकार से तत्त्वज्ञानी ब्रह्म में प्रवेश नहीं करता किन्तु घट के टूटने पर घटाकाश जैसे महाकाश में प्रविष्ट हो जाता है वैसे ही उपाधि परिच्छेद के टूटते ही उपहित आत्मा अनुपहित शुद्ध चैतन्य भाव में प्रविष्टहो जाता है ॥५॥

और वेदान्त प्रमाण जन्य विज्ञान को वेदान्त विज्ञान कहते हैं । उसका विषय परमात्मा विज्ञेय कहा गया है ऐसा परमात्मारूप अर्थ जिन्हें अच्छी प्रकार से निश्चित हो चुका है, वे वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थ कहें जाते हैं । सर्व कर्म परित्याग कर केवल ज्ञाननिष्ठा स्वरूप को संन्यास योग कहते हैं । ऐसे संन्यास योग द्वारा पूर्वोक्त तत्त्ववेत्ता यत्नशील एवं संन्यास योग से ही जिन्होंने अपने अन्तःकरण को सर्वथा निर्मल बना रखा है । वे ब्रह्मलोक में जा कर मुक्त हो जाते हैं और संन्यासियों के जो मरण काल कहें गये हैं वे अपरान्तकाल माने जाते हैं । उनकी अपेक्षा मोक्ष-

---

१. परमात्मा-परस्मादभिन्न आत्मेत्यर्थः । २. विज्ञयो विषयः । ३. अपरान्ता न परमा अन्तकालाः प्रागभावाधिक-रणत्वादिति भावः ।

"शकुनीनामिवाऽऽकाशे जले वारिचरस्य च ।
पदं यथा न दृश्येत तथा ज्ञानवतां गतिः" ।।

"अनध्वगा अध्वसु पारयिष्णवः" इति श्रुतिस्मृतिभ्यो देशपरिच्छिन्ना हि [1]गतिः [2]संसारविषयैव । परिच्छिन्नसाधनसाध्यत्वात् । ब्रह्म तु समस्तत्वान्न देशपरिच्छेदेन गन्तव्यम् । यदि हि देशपरिच्छिन्नं ब्रह्म स्यान्मूर्तद्रव्यवदाद्यन्तवदन्याश्रितं सावयवमनित्यं कृतकं च स्यात् । न त्वेवंविधं ब्रह्म भवितुमर्हति । अतस्तत्प्राप्तिश्च नैव देशपरिच्छिन्ना भवितुं युक्ता । अपि चाविद्यादिसंसारबन्धापनयनमेव मोक्षमिच्छन्ति ब्रह्मविदो न[3] तु कार्यभूतम् ।।६।।

पदं पादन्यासप्रतिबिम्बं न दृश्येताभावादेवेत्यर्थः । अध्वस्विति । [4]संसाराध्वनां पारयिष्णवः पारयितुं समापयितुमिच्छन्तीति समाप्तिकामा अनध्वगा भवन्तीत्यर्थः । तर्कतोऽपीहैव मोक्षो वक्तव्य इत्याह— देशपरिच्छिन्ना हीत्यादिना ।।६।।

भिलाषियों के संसारावसान में देह-परित्यागकाल को परान्तकाल कहा गया है। ऐसे परान्तकाल में पूर्वोक्त सभी तत्त्ववेत्ता सर्वथा मुक्त हो जाते हैं। यद्यपि ब्रह्मलोक एक है, फिर भी साधकों की अनेकता के कारण एक ब्रह्मलोक ही अनेक जैसा दिखता है और प्राप्त भी होता है। साथ ही ब्रह्मलोक पद में कर्मधारय समास माना है, षष्ठी तत्पुरुष समास नहीं माना। इसलिए ब्रह्म को ही ब्रह्मलोक कहते हैं; न कि ब्रह्मलोक ब्रह्म से भिन्न है ऐसी स्थिति में 'ब्रह्मलोकेषु' इस पद में बहुवचन साधकों की अनेकता के कारण से दिया गया है। अतः 'ब्रह्मलोकेषु' इस पद का अर्थ 'ब्रह्म में' करना चाहिए। अमरण धर्म ब्रह्म जिन्हें जीवन काल में ही आत्मरूप से प्रतीत होने लग गया वे जीवित ही "परामृताः" यानी ब्रह्मभूत कहे जाते हैं, ऐसे तत्त्ववेत्ता दीपक निर्वाण के समान और घटाकाश के महाकाश में विलीन होने के समान सभी ओर से निवृत्ति को प्राप्त कर जाते हैं। अर्थात् वे सब के सब देशान्तर गन्तव्य की अपेक्षा नहीं करते; किन्तु घटाकाश के महाकाश में विलीन के समान उपाधि के हटते है निर्विशेष ब्रह्मभाव को प्राप्त कर जाते हैं यानी विदेह कैवल्य को प्राप्त कर जाते हैं। 'जैसे आकाश में पक्षियों के पदचिह्न नहीं दिखाई देते वैसे ही ब्रह्मतत्त्वज्ञानी की गति समझ में नहीं आती'। 'संसार से पार जाने की इच्छा वाले आप्तकाम पुरुष संसार मार्ग में नहीं चलते' इस प्रकार श्रुति और स्मृति ने भी देश से परिच्छिन्न गति को संसार विषयक ही माना है, क्योंकि देशपरिच्छिन्न लोकादि की सिद्धि परिच्छिन्न साधनों से हीं होती है। ब्रह्मवेत्ता सर्वरूप होने के कारण देश परिच्छिन्न नहीं है। अतएव उसकी प्राप्ति के लिये देश परिच्छेद पूर्वक गति नहीं होती, और यदि ब्रह्म देश से परिच्छिन्न हो तो मूर्त्तद्रव्य के समान आदि-अन्तवाला विनाशी हो जायेगा। सावयव वस्तु अपने किसी अन्य अवय के आश्रित रहा करती है एवं कृति जन्य पदार्थ अनित्य होता है, किन्तु ब्रह्म को ऐसा नहीं कह सकते। अतः उसकी प्राप्ति देश परिच्छिन्न कहना युक्ति-युक्त नहीं है। इसलिये

---

१. गतिः फलम् । २. संसारविषयैवेति—संसारान्तर्गतैवेत्यर्थः । ३. तदपि नात्मातिरिक्तमित्याशयेनाह—नत्वित्यादि । ४. संसाराध्वनामिति षष्ठ्यर्थसप्तम्यभिप्रायम् ।

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥७॥

[(देह के आरम्भक प्राणादि) पन्द्रह कलायें अपने-अपने कारण में प्रतिष्ठित हो जाती हैं। चक्षुरादि इन्द्रियों के अधिष्ठाता सभी देवगण अपने प्रति देवता आदित्यादि में लीन होते हैं। उसके सञ्चितादि कर्म और विज्ञानमय आत्मा ये सभी अविनाशी परमात्म देव में एकता को प्राप्त कर लेते हैं। (मानो घटस्थ जलगत आदित्य प्रतिबिम्ब अम्बरस्थ सूर्य विम्ब को प्राप्त हो गये हों) ॥७॥]

किञ्च मोक्षकाले या देहारम्भिकाः कलाः प्राणाद्यास्ताः स्वां स्वां प्रतिष्ठां गताः स्वं स्वं कारणं गता भवन्तीत्यर्थः । प्रतिष्ठा इति द्वितीयाबहुवचनम् । पञ्चदश [1]पञ्चदशसंख्याका या अन्त्यप्रश्नपरिपठिताः प्रसिद्धा देवाश्च देहाश्रयाश्चक्षुरादिकरणस्थाः सर्वे प्रति-[2]देवतास्वादित्यादिषु गता भवन्तीत्यर्थः । यानि च मुमुक्षुणा कृतानि कर्माण्यप्रवृत्तफलानि

---

[3]स्वाः प्रतिष्ठाः प्रति गता भवन्तीति [4]भूतांशानां [5]भौतिकानां च महाभूतेषु लयो दर्शितः । अन्त्यप्रश्नेति । ब्राह्मणग्रन्थे षष्ठप्रश्ने प्राणाद्यायाः कलाः पठिता इत्यर्थः । [6]मायामयमहाभूतानामंशाव-ष्टब्धैर्जीवाविद्यामयभूतसूक्ष्मैः [7]प्रातिस्विकैरदृष्टसहकृतैः प्रातिस्विकाः प्राणादय आरभ्यन्ते । ते च [8]कर्माक्षिप्तैर्देवैः [9]सूर्यादिभिरधिष्ठीयन्ते । कर्मणो भोगेनावसाने ते देवाः [10]स्वस्थानं गच्छन्ति । [11]यच्च प्रातिस्विकं स्वाविद्याकार्यं तच्च [12]सर्वं ब्रह्मैव सम्पद्यत इत्याह—यानि चेत्यादिना ॥७॥

अविद्यादि संसार बन्धन की निवृत्ति को ही ब्रह्मज्ञानी मोक्ष कहते हैं। कार्य रूप किसी लोक की प्राप्ति को मोक्ष नहीं कहते हैं ॥६॥

मोक्षकाल में प्राणादि जो देह के आरम्भक कलायें हैं, वे सभी अपनी-अपनी प्रतिष्ठा यानी कारण में विलीन हो जाती हैं। 'प्रतिष्ठा' इस पद में द्वितीया विभक्ति का बहुवचन समझना चाहिये। प्रश्न उपनिषद् के षष्ठ प्रश्न में जो पन्द्रह संख्यावाली कलायें प्रसिद्ध हैं, उन्हीं का ग्रहण पञ्चदश कला, इस वाक्य से

---

१. अनन्तं वै नामेति-श्रुतेर्मुक्तस्यापि वामदेवादेर्नामानुवृत्तेस्तद्व्यतिरिक्ता इत्याशयेनाह—पञ्चदशेति । २. प्रतिष्ठा-भूतादेवताः प्रतिदेवताः ताश्च सूर्यादयस्ततो हि प्रतिष्ठन्ते शक्त्यंशा इत्याशयेनाह—आदित्यादिष्विति ।
३. नन्वाद्यान्त्यवाक्याभ्यां द्विरुक्तो लयः कथमित्याशङ्क्याद्येन सान्वयोऽन्त्येन तु निरन्वयो नाश उच्यत इति वाक्य-विषयं विविनक्ति—स्वा इत्यादिना । ४. भूतांशानामिति-जीवाविद्यामयभूतसूक्ष्मावष्टम्भकानां मायामयमहा-भूतांशानामित्यर्थः । ५. भौतिकानामिति-अवष्टम्भकभूतांशकार्यभागानामित्यर्थः । ६. नह्यधिकसत्ताकमना-लम्ब्य न्यूनसत्ताकमवतिष्ठते, न ह्यैन्द्रजालिको लोष्टपाषाणादिकिञ्चिदीश्वरसृष्टमनादायैव किञ्चित्सृजतीति दृष्टं, स्वाप्नश्च प्रपञ्चो व्यवहारसिद्धमनोऽवष्टब्ध एवाबभासत इत्याभिप्रेत्याह—मायामयेत्यादि । ७. प्रातिस्विकैरिति-प्रतिजीवमविद्याभेदोऽभ्युपगतो भवति । ८. कर्माक्षिप्तैः कर्माऽऽनीतैस्तदावर्जितैरिति यावत् । ९. सूर्यादिभिरिति-तच्छक्त्यंशैरिति यावत् । १०. स्वस्थानमिति-यत आवर्जितास्तदित्यर्थः । ११. यच्च प्रातिस्विकं स्वाविद्येत्यादि-एतेन विद्यया प्रातिस्विकयविद्यैव निवर्तते, न तु माया । येनेतरेषां प्रपञ्चोपलम्भो न स्यादिति ध्वन्यते । न चैवं मुक्तोपसृप्यमेव ब्रह्म चेत्समायं तस्य तर्हि सा किं मुक्तिरिति शङ्कितव्यं ब्रह्मण्यतात्त्विकमायाया अविद्यावतैव दृष्यत्वेनाविद्यदृशा समायत्वेऽपि सविद्यानां निर्मायत्वात् । सान्वयलयोक्तिस्तु पुरस्ताद्व्यवहारिदृशैवेत्यवध्येयम् ।
१२. सर्वनाम्नः स्वेतरव्यवहर्त्रविद्याकार्यत्वात्तदवशेष इति ध्येयम् ।

प्रवृत्तफलानामुपभोगेनैव क्षीयमाणत्वाद्विज्ञानमयश्चाऽऽत्माऽविद्याकृत[1]बुद्ध्याद्युपाधिम[2]ात्मत्वेन मत्वा जलादिषु [3]सूर्यादिप्रतिबिम्बवदिह प्रविष्टो देहभेदेषु [4]कर्मणां तत्फलार्थत्वात्[5]सह तेनैव विज्ञानमयेनाऽऽत्मना । [6]अतो विज्ञानमयो [7]विज्ञानप्रायः । त एते कर्माणि विज्ञानमयश्चाऽऽत्मोपाध्यपनये सति परेऽव्ययेऽनन्तेऽक्षये ब्रह्मण्याकाशकल्पेऽजेऽजरेऽमृतेऽभयेऽपूर्वेऽनपरेऽनन्तरे बाह्येऽद्वये शिवे शान्ते सर्व एकीभवन्त्यविशेषतां गच्छन्त्येकत्वमापद्यन्ते जलाद्याधारापनय इव सूर्यादिप्रतिबिम्बाः सूर्ये घटाद्यपनय इवाऽऽकाशे घटाद्याकाशाः ॥७॥

किया गया है। और देह के आश्रित नेत्र आदि इन्द्रियों में स्थित जो सभी देव हैं वे अपने समष्टि आदित्यादि में विलीन हो जाते हैं। और मुमुक्षुओं के द्वारा किये गये सभी संचित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। प्रारब्ध कर्म का तो भोग से ही नाश होता है, एवं अविद्याकृत बुद्धि आदि उपाधियों को अपने आत्मरूप से मानकर जलादि में जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब प्रविष्ट होता है, वैसे ही देह में आत्मा प्रविष्ट है। उस विज्ञानमय आत्मा के साथ ही परमात्मा का प्रवेश देह विशेष में बतलाया गया। सर्व सामान्य देह में केवल कर्म-फल का भोग होता है और मनुष्य देह में भोग के साथ नूतन कर्म भी होते रहते हैं। यही अन्य शरीर की अपेक्षा मनुष्य देह में विशेषता है। इस पुरुष को विज्ञानमय इसलिए कहा गया है कि इसमें ज्ञान की बहुलता है। वे सभी कर्म और विज्ञानमय आत्मा उपाधि के हटते ही देशकाल वस्तुकृत अंत से रहित, आकाश के सदृश अजन्मा, अजर, अन्तरबाह्यशून्य, अमृत भय रहित व्यवधान शून्य, अद्वितीय, शान्त, कल्याण स्वरूप, अक्षय परमात्मा में एकीभूत हो जाते हैं, अर्थात् अविशेष भाव को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे जल के आधार घटादि के नष्ट होते ही जलगत सूर्यादि के प्रतिबिम्ब सूर्य में मिल जाते हैं; और जैसे घटादि उपाधि के नष्ट होते ही घटादि से अवच्छिन्न आकाश महाकाश में मिल जाते हैं; ठीक वैसे ही पूर्वोक्त पञ्चदश कला, सभी देवता, कर्म और जीवात्मा के साथ अभेद-भाव प्राप्त हो जाते हैं ॥७॥

और जैसे निरन्तर बहने वाली गङ्गादि नदियाँ समुद्र को प्राप्त कर अपने नाम रूप का परित्याग कर समुद्र में अभिन्न हो जाती हैं; वैसे ही तत्त्ववेत्ता अविद्याकृत नामरूपादि सम्पूर्ण संसार से मुक्त हो दिव्य पुरुष को प्रात कर लेता है। जो दिव्य पुरुष पूर्वोक्त अक्षर ब्रह्म से परे और जिसका लक्षण पहले बतला आये हैं ऐसे परात्पर दिव्य पुरुष को तत्त्वज्ञानी सहज में प्राप्त कर लेता है ॥८॥

शंङ्का:—अच्छे कार्यों में अनेक विघ्न आते हैं, यह बात प्रसिद्ध है। अतः अविद्यादि क्लेशों में किसी क्लेश द्वारा अथवा देवादियों के द्वारा विघ्न डालने पर ब्रह्मज्ञानी भी मरकर अन्य गति को प्राप्त करता है, ब्रह्म को नहीं, ऐसी सम्भावना हो सकती है ?

समाधानः—ऐसा कहना ठीक नहीं। ब्रह्मविद्या के द्वारा ही सम्पूर्ण विघ्नों का नाश हो जाता है।

---

१. बुद्ध्याद्युपाधिमिति-साभासबुद्ध्यादिगृह्यते बुद्ध्यादिरुपाधिर्निमित्तं यस्येति तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीह्याश्रयणात्स एव विज्ञानमयः। २. साक्षिणस्ततोऽविवेकमाह—आत्मत्वेन मत्वेति। ३. स्वप्रतिबिम्बाक्रान्ततोयतादात्म्याद्भुवं प्रविष्टः सूर्यादिरिवेति दृष्टान्तमाह—सूर्यादीत्यादिना। ४. प्रवेशनिबन्धनं बध्नाति-कर्मणामिति। तस्यैव कर्मफलभोक्तृत्वादिति यावत्। ५. साक्षिणः स्वतः प्रवेशभोक्तृत्वे वारयति-सह तेनैवेति। साभासबुद्ध्यादिना सहेत्यर्थः। तद्द्वारैव प्रविष्ट इति यावत्। ६. अत इति-बुद्ध्याद्युपाधितादात्म्यादित्यर्थः। ७. प्राचुर्ये मयट्। प्राचुर्यं चेह प्राधान्यमित्याशयेन व्याचष्टे-विज्ञानप्राय इति।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥८॥
स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति।
तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥९॥

[जैसे गङ्गा आदि नदियाँ निरन्तर बहती हुई समुद्र में पहुँचने पर अपने अपने नाम-रूप को त्याग कर अविशेष भाव को प्राप्त हो जाती हैं, वैसे ही तत्वज्ञानी नाम-रूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है ॥८॥ लोक में जो कोई उस परब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। उस विद्वान् के कुल में कोई अब्रह्मवित् नहीं होता है। वह इष्ट वियोगजनित सन्ताप को जीवित अवस्था में ही पारकर जाता है। धर्माधर्म रूप पाप को भी पारकर लेता है, एवं आत्मा और अनात्मा के अध्यास रूपी हृदय ग्रन्थियों से छूटकर अमर हो जाता है ॥९॥

किञ्च यथा नद्यो गङ्गाद्याः स्यन्दमाना गच्छन्त्यः समुद्रे समुद्रं प्राप्यास्तमदर्शनम-विशेषात्मभावं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति नाम च रूपं च नामरूपे विहाय हित्वा तथाऽविद्या-कृतनाम[1]रूपाद्विमुक्तः सन्विद्वान्परादक्षरात्पूर्वोक्तात्परं दिव्यं पुरुषं [2]यथोक्तलक्षणमुपैत्यु-पगच्छति ॥८॥

ननु श्रेयस्यनेके विघ्नाः [3]प्रसिद्धा अतः [4]क्लेशानामन्यतमेनान्येन वा [5]देवादिना च विघ्नितो ब्रह्मविदप्यन्यां गतिं मृतो गच्छति न ब्रह्मैव। न। विद्ययैव सर्वप्रतिबन्धस्या-पनीतत्वात्। [6]अविद्याप्रतिबन्धमात्रो हि मोक्षो नान्यः प्रतिबन्धः। [7]नित्यत्वाद[8]त्मभूत-त्वाच्च। तस्मात्स यः कश्चिद्ध वै लोके तत्परमं ब्रह्म वेद साक्षादहमेवास्मीति स नान्यां गतिं गच्छति। देवैरपि तस्य [9]ब्रह्मप्राप्तिं प्रति विघ्नो न शक्यते कर्तुम्। [10]"आत्मा ह्येषां स

॥८॥ ॥९॥

मोक्ष का प्रतिबन्धक केवल अविद्या ही है, अन्य प्रतिबन्धक नहीं हैं, क्योंकि मोक्ष नित्य तथा आत्मरूप है। इसलिये वह जो कोई भी ब्रह्मज्ञानी इस लोक में साक्षात् 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार से उस परब्रह्म को जान लेता है वह अन्य गति को प्राप्त नहीं करता। देवता भी उसे ब्रह्म प्राप्ति में विघ्न नहीं कर सकते क्योंकि वह तत्ववेत्ता इन देवताओं की भी आत्मा है। अतः ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। इतना ही नहीं; बल्कि इस ब्रह्मज्ञानी के वंश में कोई अब्रह्मवित् पैदा नहीं होता और अनेक इष्ट

---

१. नामरूपेति—तत्र नाम्न्यभिमानविच्छेद एव तत्त्याग इत्यवधेयम्। मु.उ.१२. भाष्ये। २. यथोक्तलक्षणमिति-दिव्यो ह्यमूर्त इत्यादावुक्तलक्षणमित्यर्थः। ३. प्रसिद्धा इति—तथा च प्रसिद्धिः-श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपीति। ४. क्लेशानामिति-अविद्याऽस्मितादीनामित्यर्थः। ५. देवादिनेति-एषां तन्न, प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युरिति श्रुतेरिति भावः। ६. विद्यापनेयसर्वप्रतिबन्धं स्फुटयति—अविद्येत्यादिना। ७. नित्यत्वादुत्पत्त्य-भावेनोत्पत्तौ प्रतिबन्धाभावः। ८. आत्मभूतत्वेन च नित्यप्राप्तत्वात् प्राप्तौ तदभाव इति भावः। ९. विद्योदयं प्रत्येव देवादिविघ्ना इत्याशयेनाह—ब्रह्मप्राप्तिं प्रतीति। १०. श्रुतिमाह—आत्मा ह्येषां सभवतीति तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशत इत्यादिः।

तदेतदृचाऽभ्युक्तम् । क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षि श्रद्धयन्तः । तेषामेवैतां ब्रह्मविद्याँ वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥१०॥

[यही बात आगे की ऋचा में कही गई है, जो क्रियावान् श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ स्वयं श्रद्धा से युक्त हो एकर्षि नामक अग्नि में हवन करने वाले हैं तथा जिन्होंने (अथर्ववेदियों का प्रसिद्ध शिर पर अग्नि धारण करना रूप) शिरोव्रत का विधिपूर्वक अनुष्ठान किया है, उन्हीं से यह ब्रह्मविद्या कहनी चाहिये दूसरे से नहीं ॥१०॥]

भवति"। तस्माद्ब्रह्म विद्वान्ब्रह्मैव भवति। किञ्च नास्य विदुषोऽब्रह्मवित्[१]कुले भवति। किञ्च तरति शोकमनेकेष्टवैकल्य[२]निमित्तं मानसं संतापं जीवन्नेवातिक्रान्तो भवति। तरति पाप्मानं धर्माधर्माख्यं गुहाग्रन्थिभ्यो हृदयाविद्याग्रन्थिभ्यो[३] विमुक्तः सन्नमृतो भवतीत्युक्तमेव "भिद्यते[४]हृदयग्रन्थि"रित्यादि ॥९॥

अथेदानीं ब्रह्मविद्यासम्प्रदानविध्युपप्रदर्शनेनोपसंहारः क्रियते। तदेतद्विद्यासम्प्रदानविधानमृचा मन्त्रेणाभ्युक्तमभिप्रकाशितम्। क्रियावन्तो यथोक्तकर्मा[५]नुष्ठानयुक्ताः। श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठा अपरस्मिन्ब्रह्मण्यभियुक्ताः परब्रह्म बुभुत्सवः स्वयमेकर्षिमेकर्षिनामानमग्निं जुह्वते जुह्वति श्रद्धयन्तः श्रद्दधानाः सन्तो ये तेषामेव संस्कृतात्मनां पात्रभूतानामेतां ब्रह्मविद्यां वदेत ब्रूयाच्छिरोव्रतं शिरस्यग्निधारणलक्षणम्। [६]यथाऽऽथर्वणानां वेदव्रतं[७] प्रसिद्धम्। यस्तु यैश्च तच्चीर्णं विधिवद्यथाविधानं तेषामेव च ॥१०॥

एतद्ग्रन्थद्वारकविद्याप्रदानेऽयं बिधिराथर्वणिकानामिति प्रकृतपरामर्शकादेतच्छब्दादवगम्यते 'ग्रन्थद्वारेण विद्यायाः प्रकृतत्वसम्भवान्न सर्वत्र[९] ब्रह्मविद्या[८]सम्प्रदानमिति[१०] सूचयन्नाह—एतां ब्रह्मविद्यां वदेतेति ॥१०॥

वस्तुओं के वियोग से होने वाले मानस ताप को वह जीवित दशा में ही पार कर जाता है। पुण्य-पाप रूप जन्म के हेतुभूत पाप को भी नष्ट कर डालता है। हृदस्थ अविद्या ग्रन्थि से छूटा हुआ वह जीवन मुक्त पुरुष अमरत्व एवं विदेह कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। यही बात 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इत्यादि मन्त्र से कही जा चुकी है ॥९॥

अब ब्रह्मविद्या प्रदान करने तथा ग्रहण करने की विधि उपदर्शन द्वारा उपसंहार किया जाता

---

१. कुले शिष्यादिवंशे चेत्यर्थः। २. वैकल्यं वियोगः। ३. अविद्याग्रन्थिभ्योऽविद्यावासनाप्रचयेभ्यः। ४. मु. उ. २-२-८। ५. यथोक्तकर्मेति—निष्कामकर्मविवक्षितम्। ६. सम्प्रदायज्ञतयाऽऽह—यथेत्यादि। एतेन शिरसा गुर्वाज्ञाधारणमेव शिरोव्रतमित्यादिप्रलपन्तो बाह्याः पराहता वेदितव्याः। ७. वेदव्रतम्—शिरस्याग्निधारणात्मकमेव वेदाध्ययनाङ्गं व्रतम्। ८. विद्या हि वाक्योत्थवृत्तिर्न च सा प्रकृतेति कथमेतच्छब्दपरामृश्येत्याशङ्क्याह—ग्रन्थेति। ९. सर्वत्रेति—सर्वोपनिषदीवेत्यर्थः। १०. सम्प्रदानमिति—एतद्विधानमपेक्षत इति शेषः।

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते ।
नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥११॥

इति तृतीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥२॥

ॐ भद्रं कर्णेभिरिति शान्तिः ॥३॥

॥ इति मुण्डकोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ ॐ तत्सत् ॥

[उस इस अक्षर पुरुष सत्य को अङ्गिरा नामक ऋषि ने पूर्वकाल में (विधिपूर्वक अपने समीप आये हुए शौनक जी से) कहा था । जिसने शिरोव्रत का विधिपूर्वक अनुष्ठान नहीं किया, वह इस विद्या का अध्ययन नहीं कर सकता है । परमर्षियों को नमस्कार है, परमर्षियों को नमस्कार है, द्विरुक्ति आदरार्थ है ॥११॥

॥ इति तृतीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः समाप्तः ॥

॥ इति मुण्डकोपनिषत्समाप्ता ॥

तदेतदक्षरं [1]पुरुषं सत्यमृषिरङ्गिरा नाम पुरा पूर्वं शौनकाय विधिवदुपसन्नाय पृष्टवत उवाच । तद्वदन्योऽपि तथैव श्रेयोऽर्थिने मुमुक्षवे मोक्षार्थं विधिवदुपसन्नाय ब्रूयादित्यर्थः । नैतद्ग्रन्थरूपमचीर्णव्रतोऽचरितव्रतो[2]ऽप्यधीते न पठति । चीर्णव्रतस्य हि विद्या फलाय

॥११॥

है । वेदमन्त्र द्वारा विद्या के सम्प्रदान का विधान प्रकाशित किया गया है अर्थात् इस मुण्डक उपनिषत् में कही गयी ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये कुछ विशेष साधन अपेक्षित हैं । उसे मन्त्र द्वारा कहा गया है । जो शास्त्रोक्त कर्मानुष्ठान से युक्त क्रियावान् हैं, जिन्होंने अङ्ग सहित वेदों का अध्ययन कर रखा है, एवं अपर ब्रह्म में जिनकी निष्ठा है, और परब्रह्म को जानना चाहते हैं 'ऐसे श्रद्धालु पुरुष स्वयं एकर्षिनाम अग्नि में हवन करते हैं' उस विशुद्ध अन्तःकरण वाले ब्रह्मविद्या के पात्र साधक को ही इस मुण्डकोक्त ब्रह्मविद्या का उपदेश करें । साथ ही शिर पर अग्नि का धारण करना रूप शिरोव्रत जिन्होंने किया है । आथर्वणिकों के लिए उक्त शिरोव्रत वेदाध्ययन के लिए प्रसिद्ध है । ऐसे शिरोव्रत का शास्त्र विधि से जिन्होंने अनुष्ठान किया उन्हीं को मुण्डकोक्त ब्रह्मविद्या का उपदेश करना चाहिए ।

इस मन्त्र में कहे गये शिरोव्रत व्याख्यान से मुण्डक इस नाम का व्याख्यान भी समझ लेना चाहिये अर्थात् मुण्ड का अर्थ शिर होता है, उस पर अग्नि धारण करके इसका अभ्यास किये जाने के कारण ही इसे मुण्डक कहते हैं । अतः किसी-किसी व्याख्यानकार ने मुण्डक का अर्थ जो किया है कि इस विद्या को पढ़ने के लिये शिर का मुण्डन कराना आवश्यक है अथवा इसके पढ़ने वाले को अन्त में शिर मुण्डाना ही पड़ता है । यह कथन अनर्गल प्रलाप और निराधार है । इसीलिये इस उपनिषत् की दीपिका नामक टीका में स्पष्ट रूप से लिख दिया कि 'शिर पर अग्निधारण करना व्रत के कारण से ही इस ग्रन्थ का नाम मुण्डक पड़ गया ॥१०॥

---

१. पुरुषमुवाचेत्यन्वयः । २. नाप्यधीत इति पाठान्तरम् ।

संस्कृता भवतीति । समाप्ता ब्रह्मविद्या सा येभ्यो ब्रह्मादिभ्यः पारम्पर्यक्रमेण संप्राप्ता तेभ्यो नमः परमऋषिभ्यः । परमं ब्रह्म [1]साक्षाद्दृष्टवन्तो ये ब्रह्मादयो[2]ऽवगतवन्तश्च ते परमर्षयस्तेभ्यो भूयोऽपि नमः । द्विर्वचनमत्यादरार्थं मुण्डकसमाप्त्यर्थं च ॥११॥

इति तृतीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयः खण्डः ॥२॥

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतावाथर्वणमुण्डकोपनिषद्भाष्यं समाप्तम् ॥

इति तृतीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥२॥
इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदानन्दज्ञानविरचितं
मुण्डकोपनिषद्भाष्यव्याख्यानं समाप्तम् ॥

उसी इस सत्य अक्षर पुरुष का उपदेश बहुत प्राचीन काल में विधिपूर्वक शिष्य भाव से आकर प्रश्न करने वाले शौनक ऋषि से अङ्गिरा ऋषि ने किया था, ठीक वैसे हो आज अन्य भी तत्त्वज्ञानी उसी प्रकार कल्याण कामी मोक्ष के लिये विधि पूर्वक गुरु की शरण में आये हुए मुमुक्षु को बतलावें। यह इसका तात्पर्य है। जिसने पूर्वोक्त शिरोव्रत अनुष्ठान नहीं किया वह इस ग्रन्थ का अध्ययन भी नहीं कर सकता, क्योंकि शिरोव्रत से संस्कृत हुई विद्या ही फल देने में उपयुक्त होती है। क्रमशः ब्रह्मा से लेकर शौनक पर्यन्त आयी हुई जो ब्रह्मविद्या है वह समाप्त हुई। इस विद्या की परम्परा में आये हुये ब्रह्मादि जिन सभी तत्त्ववेत्ताओं ने उस परतत्त्व ब्रह्म का साक्षात् दर्शन किया है, वे सब परम ऋषि हैं। ऐसी ब्रह्मविद्या के प्रवर्त्तक परम ऋषियों को बारम्बार नमस्कार है दोबार 'नमः परम-ऋषिभ्यः' इसका उच्चारण आदर के लिये और मुण्डकोपनिषत् की समाप्ति बतलाने के लिये क्रिया गया है ॥११॥

इस प्रकार अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषत् की श्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचित
शाङ्करभाष्य की श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यकैलासपीठाधीश्वर
महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्दगिरि
कृत भाष्यार्थदीपिका नामक हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई।
॥ श्रीशङ्करः प्रीयताम् ॥

---

१. साक्षाद्दृष्टवन्त इति-यथाग्निवाय्विन्द्रास्तथा च श्रुतिस्ते ह्येतन्नेदिष्ठं पस्पृशुरिति । २. अवगतवन्तश्च प्रत्यक्तयेत्यर्थः । यद्वा यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्मेति श्रुतेरहमिति चात्मत्वेन साक्षाद्भासमानत्वेऽपि यथा नेतरेषां ब्रह्मत्वेन तदवगतिर्न तथा येषां ब्रह्मादीनामित्यभिप्रेत्य विशिनष्टि—अवगतवन्तश्चेति ।

स्वबोधशुद्धिकामेन विष्णुदेवेन भिक्षुणा ।
अधीत्याचार्यपादेभ्यष्टिप्पणं शुभमङ्कितम् ॥

इति श्रीशाङ्करभाष्योपेतमुण्डकोपनिषदः
श्रीमन्महामण्डलेश्वरस्वामिगोविन्दानन्दगिरिपादशिष्यविद्यावाचस्पति-
श्रीमन्महामण्डलेश्वरस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिविरचिता
गोविन्दप्रसादिनीटिप्पणीसमाप्तिङ्गता ॥

श्री कैलास विद्यालोक सूची पत्र

२०.	ईशावास्य प्रवचन सुधा, डबल क्राउन साइज १६ पेजी पृष्ठ ३२०	...	२५-००
२१.	वेदान्त परिभाषा (अर्थदीपिका एवं सानुवाद सुबोधिनी व्याख्या सजिल्द) क्राउन साइज ८ पेजी पृष्ठ ३६०	...	४०-००
२२.	ब्रह्मसूत्र (सानुवाद-विद्यानन्दवृत्ति सजिल्द) डबल डिमाई साइज १६ पेजी पृष्ठ ५२०	...	१०-००
२३.	ब्रह्मसूत्र (संस्कृत विद्यानन्दवृत्ति परीक्षोपयोगी) डबल डिमाई साइज १६ पेजी पृष्ठ २४७	...	५-००
२४.	श्रुतिसारसमुद्धरणम् (हिन्दीटीकायुतम्) क्राउन १६ पेजी पृष्ठ १५२	...	८-००
२५.	तत्त्वबोध, आत्मबोध सानुवाद पृष्ठ १००	...	१०-००
२६.	शाङ्करवचनामृत (हिन्दी व्याख्या) क्राउन ३२ पेजी	...	१-००
२७.	गङ्गा लहरी (सानुवाद) पृष्ठ ५४	...	१-००
२८.	वेदान्त रत्नाकर क्राउन १६ पेजी पृष्ठ ११६	...	८-००
२९.	वेदान्त डिण्डिम घोष (सानुवाद) पृष्ठ ५८	...	५-००
३०.	हरिमीडे स्तोत्रम् (सानुवाद) पृष्ठ ७७	...	२-००
३१.	सागरसेतु सजिल्द क्राउनसाइज पृष्ठ ३२०	...	२०-००
३२.	कैलाश आश्रम शताब्दी स्मारिका सजिल्द क्राउन साइज पृ० ४३४	...	२५-००
३३.	यतीन्द्रतिलक सजिल्द क्राउन साइज पृष्ठ ३२४	...	३२-००
३४.	शिवमहिम्न स्तोत्र	...	
३५.	शिव ताण्डव	...	
३६.	वैदिक दशशान्ति मन्त्र	...	
३७.	दिव्यस्मृति पृष्ठ ३८८	...	१०-००
३८.	हरिहर तारतम्य स्तोत्र	...	
३८.	आचार्यद्वयानुस्मृति	...	
३९.	मानससूक्तिसुधा	...	—

नोट:—पुस्तक मंगाने वाले सज्जन अग्रिम राशि निम्नाङ्कित कार्यालय में भेजकर मंगावें। पुस्तक के मूल्यातिरिक्त डाक, रेलवे तथा पोस्टेल व्यय पृथक् लगेगा बी० पी० द्वारा पुस्तक भेजने का क्रम नहीं है।

मुख्य कार्यालय—

श्री कैलसाश्रम, ऋषिकेश (उ०प्र०)—पिन : २४९२०१

प्रकाशक :

कैलास-विद्यालोक